॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥
1590
गीता-प्रबोधनी
[विशिष्ट संस्करण]
स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विश्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण

भगवान् विष्णु

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥ १॥

धृतराष्ट्र बोले—हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें इकट्ठे हुए युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने भी क्या किया?

व्याख्या— यह हिन्दू संस्कृतिकी विलक्षणता है कि इसमें प्रत्येक कार्य अपने कल्याणका उद्देश्य सामने रखकर ही करनेकी प्रेरणा की गयी है। इसलिये युद्ध-जैसा घोर कर्म भी 'धर्मक्षेत्र' (धर्मभूमि) एवं 'कुरुक्षेत्र' (तीर्थभूमि) में किया गया है, जिससे युद्धमें मरनेवालोंका भी कल्याण हो जाय।

भगवान्‌की ओरसे सृष्टिमें कोई भी (मेरे और तेरेका) विभाग नहीं किया गया है। सम्पूर्ण सृष्टि पाञ्चभौतिक है। सभी मनुष्य समान हैं और उन्हें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी भी समानरूपसे मिले हुए हैं। परन्तु मनुष्य मोहके वशीभूत होकर उनमें विभाग कर लेता है कि ये मनुष्य, घर, गाँव, प्रान्त, देश, आकाश, जल आदि मेरे हैं और ये तेरे हैं। इस 'मेरे' और 'तेरे' के भेदसे ही सम्पूर्ण संघर्ष उत्पन्न होते हैं। महाभारतका युद्ध भी 'मामकाः' (मेरे पुत्र) और 'पाण्डवाः' (पाण्डुके पुत्र)—इस भेदके कारण आरम्भ हुआ है।

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २॥

संजय बोले—उस समय वज्रव्यूहसे खड़ी हुई पाण्डव-सेनाको देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर राजा दुर्योधन यह वचन बोला।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूहरचनासे खड़ी की हुई पाण्डवोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

यहाँ (पाण्डवोंकी सेनामें) बड़े-बड़े शूरवीर हैं, जिनके बहुत बड़े-बड़े धनुष हैं तथा जो युद्धमें भीम और अर्जुनके समान हैं। उनमें युयुधान (सात्यकि), राजा विराट और महारथी द्रुपद भी हैं। धृष्टकेतु और चेकितान तथा पराक्रमी काशिराज भी हैं। पुरुजित् और कुन्तिभोज— ये (दोनों भाई) तथा मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य भी हैं। पराक्रमी युधामन्यु और पराक्रमी उत्तमौजा भी हैं। सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र भी हैं। ये सब-के-सब महारथी हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥ ७॥

हे द्विजोत्तम! हमारे पक्षमें भी जो मुख्य हैं, उनपर भी आप ध्यान दीजिये। आपको याद दिलानेके लिये मेरी सेनाके जो नायक हैं, उनको मैं कहता हूँ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८ ॥

आप (द्रोणाचार्य) और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९ ॥

इनके अतिरिक्त बहुत-से शूरवीर हैं, जिन्होंने मेरे लिये अपने जीनेकी इच्छाका भी त्याग कर दिया है, और जो अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको चलानेवाले हैं तथा जो सब-के-सब युद्धकलामें अत्यन्त चतुर हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १०॥

(द्रोणाचार्यको चुप देखकर दुर्योधनके मनमें विचार हुआ कि वास्तवमें) हमारी वह सेना (पाण्डवोंपर विजय करनेमें) अपर्याप्त है, असमर्थ है; क्योंकि उसके संरक्षक (उभय-पक्षपाती) भीष्म हैं। परन्तु इन पाण्डवोंकी यह सेना (हमपर विजय करनेमें) पर्याप्त है, समर्थ है; क्योंकि इसके संरक्षक (निजसेना-पक्षपाती) भीमसेन हैं।

व्याख्या— इस श्लोकसे ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्योधन पाण्डवोंसे सन्धि करना चाहता है। परन्तु वास्तवमें ऐसी बात है नहीं। दुर्योधनने कहा है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥
(गर्गसंहिता, अश्वमेध० ५०। ३६)

'मैं धर्मको जानता हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्मको भी जानता हूँ, पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं होती। मेरे हृदयमें स्थित कोई देव है, जो मुझसे जैसा करवाता है, वैसा ही मैं करता हूँ।'

दुर्योधन हृदयमें स्थित जिस देवकी बात कहता है, वह वास्तवमें 'कामना' ही है। जब वह कामनाके वशीभूत होकर उसके अनुसार चलता है तो फिर वह पाण्डवोंसे सन्धि कैसे कर सकता है? पाण्डव मनके अनुसार नहीं चलते थे, प्रत्युत धर्मके तथा भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलते थे। इसलिये जब गन्धर्वोंने दुर्योधनको बन्दी बना लिया था, तब युधिष्ठिरने ही उसे छुड़वाया। वहाँ युधिष्ठिरके वचन हैं—

परैः परिभवे प्राप्ते वयं पञ्चोत्तरं शतम्।
परस्परविरोधे तु वयं पञ्च शतं तु ते॥
(महाभारत, वन० २४३)

'दूसरोंके द्वारा पराभव प्राप्त होनेपर उसका सामना करनेके लिये हमलोग एक सौ पाँच भाई हैं। आपसमें विरोध होनेपर ही हम पाँच भाई अलग हैं और वे सौ भाई अलग हैं।'

कामना मनुष्योंको पापोंमें लगाती है (गीता ३। ३६-३७); परन्तु धर्म मनुष्योंको पुण्यकर्मोंमें लगाता है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥ ११॥

दुर्योधन बाह्यदृष्टिसे अपनी सेनाके महारथियोंसे बोला— आप सब-के-सब लोग सभी मोर्चोंपर अपनी-अपनी ज़गह दृढ़तासे स्थित रहते हुए निश्चितरूपसे पितामह भीष्मकी ही चारों ओरसे रक्षा करें।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥ १२॥

उस (दुर्योधन)-के हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए कौरवोंमें वृद्ध प्रभावशाली पितामह भीष्मने सिंहके समान गरजकर जोरसे शंख बजाया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३॥

उसके बाद शङ्ख और भेरी (नगाड़े) तथा ढोल, मृदंग और नरसिंघे बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥ १४॥

उसके बाद सफेद घोड़ोंसे युक्त महान् रथपर बैठे हुए लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुनने भी दिव्य शङ्खोंको बड़े जोरसे बजाया।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५॥

अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य नामक तथा धनञ्जय अर्जुनने देवदत्त नामक शङ्ख बजाया और भयानक कर्म करनेवाले वृकोदर भीमने पौण्ड्र नामक महाशङ्ख बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ १६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक शङ्ख बजाया तथा नकुल और सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाये।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥ १८॥

हे राजन्! श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न एवं राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद और द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा लम्बी-लम्बी भुजाओंवाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सभीने सब ओरसे अलग-अलग (अपने-अपने) शङ्ख बजाये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥

और (पाण्डवसेनाके शंखोंके) उस भयंकर शब्दने आकाश और पृथ्वीको भी गुँजाते हुए अन्यायपूर्वक राज्य हड़पनेवाले दुर्योधन आदिके हृदय विदीर्ण कर दिये।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

हे महीपते धृतराष्ट्र! अब शस्त्र चलनेकी तैयारी हो ही रही थी कि उस समय अन्यायपूर्वक राज्यको धारण करनेवाले राजाओं और उनके साथियोंको व्यवस्थितरूपसे सामने खड़े हुए देखकर कपिध्वज पाण्डुपुत्र अर्जुनने अपना गाण्डीव धनुष उठा लिया और अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे यह वचन बोले।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥ २२॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत! दोनों सेनाओंके मध्यमें मेरे रथको (आप तबतक) खड़ा कीजिये, जबतक मैं (युद्धक्षेत्रमें) खड़े हुए इन युद्धकी इच्छावालोंको देख न लूँ कि इस युद्धरूप उद्योगमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

दुष्टबुद्धि दुर्योधनका युद्धमें प्रिय करनेकी इच्छा-वाले जो ये राजालोग इस सेनामें आये हुए हैं, युद्ध करनेको उतावले हुए (इन सबको) मैं देख लूँ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान्कुरूनिति॥ २५॥

संजय बोले—हे भरतवंशी राजन्! निद्रा-विजयी अर्जुनके द्वारा इस तरह कहनेपर अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके मध्यभागमें पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके सामने तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने श्रेष्ठ रथको खड़ा करके इस प्रकार कहा कि 'हे पार्थ! इन इकट्ठे हुए कुरुवंशियोंको देख'।

व्याख्या— 'युद्धके लिये एकत्र हुए इन कुरुवंशियोंको देख'—ऐसा कहनेमें भगवान्‌की यह गूढ़ाभिसन्धि थी कि इन कुरुवंशियोंको देखकर अर्जुनके भीतर छिपा कौटुम्बिक ममतायुक्त मोह जाग्रत् हो जाय और मोह जाग्रत् होनेसे अर्जुन जिज्ञासु बन जाय, जिससे अर्जुनका तथा उनके निमित्तसे भावी मनुष्योंका भी मोहनाश करनेके लिये गीताका महान् उपदेश दिया जा सके।

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥ २६॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

उसके बाद पृथानन्दन अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित पिताओंको, पितामहोंको, आचार्योंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको भी देखा।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥ २७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अपनी-अपनी जगहपर स्थित उन सम्पूर्ण बान्धवों-को देखकर वे कुन्तीनन्दन अर्जुन अत्यन्त कायरतासे युक्त होकर विषाद करते हुए ऐसा बोले।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥ २८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ २९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ ३०॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! युद्धकी इच्छावाले इस कुटुम्ब-समुदायको अपने सामने उपस्थित देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं और मुख सूख रहा है तथा मेरे शरीरमें कँपकँपी आ रही है एवं रोंगटे खड़े हो रहे हैं। हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी जल रही है। मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है और मैं खड़े रहनेमें भी असमर्थ हो रहा हूँ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ ३१॥

हे केशव! मैं लक्षणों (शकुनों)-को भी विपरीत देख रहा हूँ और युद्धमें स्वजनोंको मारकर श्रेय (लाभ) भी नहीं देख रहा हूँ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥

हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ, न राज्य चाहता हूँ और न सुखोंको ही चाहता हूँ। हे गोविन्द! हमलोगोंको राज्यसे क्या लाभ? भोगोंसे क्या लाभ? अथवा जीनेसे भी क्या लाभ?

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३॥

जिनके लिये हमारी राज्य, भोग और सुखकी इच्छा है, वे ही ये सब अपने प्राणोंकी और धनकी आशाका त्याग करके युद्धमें खड़े हैं।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥ ३४॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ ३५॥

आचार्य, पिता, पुत्र और उसी प्रकार पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले तथा अन्य जितने भी सम्बन्धी हैं, मुझपर प्रहार करनेपर भी मैं इनको मारना नहीं चाहता और हे मधुसूदन! मुझे त्रिलोकीका राज्य मिलता हो तो भी मैं इनको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वीके लिये तो मैं इनको मारूँ ही क्या?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥ ३६॥

हे जनार्दन! इन धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको मारकर हमलोगोंको क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियोंको मारनेसे तो हमें पाप ही लगेगा।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥ ३७॥

इसलिये अपने बान्धव इन धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं; क्योंकि हे माधव! अपने कुटुम्बियोंको मारकर हम कैसे सुखी होंगे?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ ३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ ३९॥

यद्यपि लोभके कारण जिनका विवेक-विचार लुप्त हो गया है, ऐसे ये (दुर्योधन आदि) कुलका नाश करनेसे होनेवाले दोषको और मित्रोंके साथ द्वेष करनेसे होनेवाले पापको नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन! कुलका नाश करनेसे होनेवाले दोषको ठीक-ठीक जाननेवाले हम लोग इस पापसे निवृत्त होनेका विचार क्यों न करें?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ ४०॥

कुलका क्षय होनेपर सदासे चलते आये कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्मका नाश होनेपर बचे हुए सम्पूर्ण कुलको अधर्म दबा लेता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥ ४१॥

हे कृष्ण! अधर्मके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, और हे वार्ष्णेय! स्त्रियोंके दूषित होनेपर वर्णसंकर पैदा हो जाते हैं।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ ४२॥

वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेवाला ही होता है। श्राद्ध और तर्पण न मिलनेसे इन कुलघातियोंके पितर भी (अपने स्थानसे) गिर जाते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४३॥

इन वर्णसंकर पैदा करनेवाले दोषोंसे कुलघातियोंके सदासे चलते आये कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४४॥

हे जनार्दन! जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, उन मनुष्योंका बहुत कालतक नरकोंमें वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥

यह बड़े आश्चर्य और खेदकी बात है कि हमलोग बड़ा भारी पाप करनेका निश्चय कर बैठे हैं, जो कि राज्य और सुखके लोभसे अपने स्वजनोंको मारनेके लिये तैयार हो गये हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४६॥

अगर ये हाथोंमें शस्त्र-अस्त्र लिये हुए धृतराष्ट्रके पक्षपाती लोग युद्धभूमिमें सामना न करनेवाले तथा शस्त्ररहित मुझे मार भी दें तो वह मेरे लिये बड़ा ही हितकारक होगा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

संजय बोले—ऐसा कहकर शोकाकुल मनवाले अर्जुन बाणसहित धनुषका त्याग करके युद्धभूमिमें रथके मध्यभागमें बैठ गये।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

संजय बोले—वैसी कायरतासे व्याप्त हुए उन अर्जुनके प्रति, जो कि विषाद कर रहे हैं और आँसुओंके कारण जिनके नेत्रोंकी देखनेकी शक्ति अवरुद्ध हो रही है, भगवान् मधुसूदन यह (आगे कहे जानेवाले) वचन बोले।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! इस विषम अवसरपर तुम्हें यह कायरता कहाँसे प्राप्त हुई, जिसका कि श्रेष्ठ पुरुष सेवन नहीं करते, जो स्वर्गको देनेवाली नहीं है और कीर्ति करनेवाली भी नहीं है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ ३॥

हे पृथानन्दन अर्जुन! इस नपुंसकताको मत प्राप्त हो; क्योंकि तुम्हारेमें यह उचित नहीं है। हे परन्तप! हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताका त्याग करके (युद्धके लिये) खड़े हो जाओ।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! मैं रणभूमिमें भीष्म और द्रोणके साथ बाणोंसे कैसे युद्ध करूँ? क्योंकि हे अरिसूदन! ये दोनों ही पूजाके योग्य हैं।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर इस लोकमें मैं भिक्षाका अन्न खाना भी श्रेष्ठ समझता हूँ; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर यहाँ रक्तसे सने हुए तथा धनकी कामनाकी मुख्यतावाले भोगोंको ही तो भोगूँगा!

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो-
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥

हम यह भी नहीं जानते कि हमलोगोंके लिये (युद्ध करना और न करना—इन) दोनोंमेंसे कौन-सा अत्यन्त श्रेष्ठ है अथवा हम उन्हें जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे। जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्रके सम्बन्धी हमारे सामने खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

कायरतारूप दोषसे तिरस्कृत स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहित अन्त:करणवाला मैं आपसे पूछता हूँ कि जो निश्चित कल्याण करनेवाली हो, वह बात मेरे लिये कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ। आपके शरण हुए मुझे शिक्षा दीजिये।

व्याख्या— प्रत्येक मनुष्य वास्तवमें साधक है। कारण कि चौरासी लाख योनियोंमें भटकते हुए जीवको भगवान् यह मनुष्यशरीर केवल अपना कल्याण करनेके लिये ही प्रदान करते हैं। इसलिये किसी भी मनुष्यको अपने कल्याणसे निराश नहीं होना चाहिये। मनुष्यमात्रको परमात्मप्राप्तिका जन्मसिद्ध अधिकार है। साधक होनेके नाते मनुष्यमात्र अपने साध्यको प्राप्त करनेमें स्वतन्त्र, समर्थ, योग्य और अधिकारी है। सबसे पहले इस बातकी आवश्यकता है कि मनुष्य अपने उद्देश्यको पहचानकर दृढ़तापूर्वक यह स्वीकार कर ले कि मैं संसारी नहीं हूँ, प्रत्युत साधक हूँ।

मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ आदि मान्यताएँ केवल सांसारिक व्यवहार (मर्यादा)-के लिये तो ठीक हैं, पर परमात्मप्राप्तिमें ये बाधक हैं। ये मान्यताएँ शरीरको लेकर हैं। परमात्मप्राप्ति शरीरको नहीं होती, प्रत्युत स्वयं साधकको होती है। साधक स्वयं अशरीरी ही होता है।

अर्जुनने अपने वास्तविक उद्देश्यको पहचान लिया है कि मुझे अपना कल्याण करना है। इसलिये वे युद्ध करने अथवा न करनेकी बात न पूछकर अपने कल्याणका निश्चित उपाय पूछते हैं।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं-
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

कारण कि पृथ्वीपर धन-धान्यसमृद्ध और शत्रुरहित राज्य तथा (स्वर्गमें) देवताओंका आधिपत्य मिल जाय तो भी इन्द्रियोंको सुखानेवाला मेरा जो शोक है, वह दूर हो जाय—ऐसा मैं नहीं देखता हूँ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९ ॥

संजय बोले—हे शत्रुतापन धृतराष्ट्र! ऐसा कहकर निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् गोविन्दसे 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा साफ-साफ कहकर चुप हो गये।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

हे भरतवंशोद्भव धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओंके मध्य भागमें विषाद करते हुए उस अर्जुनके प्रति हँसते हुएसे भगवान् हृषीकेश यह (आगे कहे जानेवाले) वचन बोले।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

श्रीभगवान् बोले—तुमने शोक न करनेयोग्यका शोक किया है और विद्वत्ता (पण्डिताई)-की बातें कह रहे हो; परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये पण्डितलोग शोक नहीं करते।

व्याख्या— इस श्लोकसे भगवान् शरीर और शरीरी (स्वयं)-के विवेकका उपदेश आरम्भ करते हैं, जो प्रत्येक मार्गके साधकके लिये अत्यन्त आवश्यक है। शरीर सदा मृत्युमें रहता है और शरीरी सदा अमरतामें रहता है, इसलिये दोनोंके लिये ही शोक करनेका कोई औचित्य नहीं है— यह इस सम्पूर्ण उपदेशका सार है।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि भगवान्ने इस प्रकरणमें चिन्मय सत्तारूप अपने अंश (आत्मा)-को ही सामान्य लोगोंको समझानेकी दृष्टिसे 'शरीरी' तथा 'देही' नामोंसे कहा है। वास्तवमें शरीरीका शरीरसे सम्बन्ध है ही नहीं, हो सकता ही नहीं, असम्भव है।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

किसी कालमें मैं नहीं था और तू नहीं था तथा ये राजालोग नहीं थे, यह बात भी नहीं है; और इसके बाद (भविष्यमें मैं, तू और राजालोग—) हम सभी नहीं रहेंगे, यह बात भी नहीं है।

व्याख्या— मनुष्यमात्रको 'मैं हूँ'—इस रूपमें अपनी एक सत्ताका अनुभव होता है। इस सत्तामें अहम् ('मैं') मिला हुआ होनेसे ही 'हूँ' के रूपमें अपनी अलग एकदेशीय सत्ता अनुभवमें आती है। यदि अहम् न रहे तो 'है' के रूपमें एक सर्वदेशीय सत्ता ही अनुभवमें आयेगी। वह सर्वदेशीय सत्ता ही प्राणिमात्रका वास्तविक स्वरूप है। उस सत्तामें जड़ताका मिश्रण नहीं है अर्थात् उसमें मैं, तू, यह और वह—ये चारों ही नहीं हैं। सार बात यह है कि एक चिन्मय सत्तामात्रके सिवाय कुछ नहीं है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

देहधारीके इस मनुष्यशरीरमें जैसे बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है। उस विषयमें धीर मनुष्य मोहित नहीं होता।

व्याख्या— जीव स्वयं तो निरन्तर अमरत्वमें ही रहता है, पर शरीर निरन्तर मृत्युमें जा रहा है। जीवके गर्भमें आते ही मृत्युका यह क्रम आरम्भ हो जाता है। गर्भावस्था मरती है तो बाल्यावस्था आती है। बाल्यावस्था मरती है तो युवावस्था आती है। युवावस्था मरती है तो वृद्धावस्था आती है। वृद्धावस्था मरती है तो देहान्तर-अवस्था आती है अर्थात् दूसरे जन्मकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार शरीरकी अवस्थाएँ बदलती हैं, पर उसमें रहनेवाला शरीरी ज्यों-का-त्यों रहता है। कारण यह है कि शरीर और शरीरी—दोनोंके विभाग ही अलग-अलग हैं। अतः साधक अपनेको कभी शरीर न माने। बन्धन-मुक्ति स्वयंकी होती है, शरीरकी नहीं।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥

हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रियोंके विषय (जड़ पदार्थ) तो शीत (अनुकूलता) और उष्ण (प्रतिकूलता)-के द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं तथा आने-जानेवाले और अनित्य हैं। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! उनको तुम सहन करो।

व्याख्या— संसारकी समस्त परिस्थितियाँ आने-जानेवाली, मिलने-बिछुड़नेवाली हैं। मनुष्य यह चाहता है कि सुखदायी परिस्थिति बनी रहे और दुःखदायी परिस्थिति न आये। परन्तु सुखदायी परिस्थिति जाती ही है और दुःखदायी परिस्थिति आती ही है—यह प्राकृतिक नियम है अथवा प्रभुका मंगलमय विधान है। अतः साधकको प्रत्येक परिस्थिति प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करनी चाहिये।

निरन्तर परिवर्तनशील वस्तुओंमें स्थिरता देखना भूल है। इस भूलसे ही ममता और कामनाकी उत्पत्ति होती है। देखनेमें वस्तु मुख्य दीखती है, क्रिया गौण। पर वास्तवमें क्रिया-ही-क्रिया है, वस्तु है ही नहीं!

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥

कारण कि हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! सुख-दुःखमें सम रहनेवाले जिस बुद्धिमान् मनुष्यको ये मात्रास्पर्श (पदार्थ) विचलित (सुखी-दुःखी) नहीं करते, वह अमर होनेमें समर्थ हो जाता है अर्थात् वह अमर हो जाता है।

व्याख्या— मिले हुए और बिछुड़नेवाले शरीरको मैं, मेरा तथा मेरे लिये मानना मनुष्यकी मूल भूल है। यह भूल स्वतः-स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत मनुष्यके द्वारा रची हुई (कृत्रिम) है। अपने विवेकको महत्त्व न देनेसे ही यह भूल उत्पन्न होती है। इस एक भूलसे फिर अनेक तरहकी भूलें उत्पन्न होती हैं। इसलिये इस भूलको मिटाना बहुत आवश्यक है और इसको मिटानेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर ही है। इसको मिटानेके लिये भगवान्‌ने मनुष्यको विवेक प्रदान किया है। जब साधक अपने विवेकको महत्त्व देकर इस भूलको मिटा देता है, तब वह निर्मम-निरहंकार हो जाता है। निर्मम-निरहंकार होते ही साधकमें समता आ जाती है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥

असत्‌का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है। तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने इन दोनोंका ही तत्त्व देखा अर्थात् अनुभव किया है।

व्याख्या— दो विभाग हैं—चेतन-विभाग ('है') और जड़-विभाग ('नहीं')। परमात्मा तथा सम्पूर्ण जीव चेतन-विभागमें हैं और संसार-शरीर जड़-विभागमें हैं। जड़ और चेतन—दोनोंका स्वभाव परस्परविरुद्ध है। यह नियम है कि परस्परविरुद्ध विश्वास एक साथ नहीं रह सकते। इसलिये 'है' पर विश्वास होते ही 'नहीं' का विश्वास निर्जीव हो जाता है और 'नहीं' से विश्वास उठते ही 'है' का विश्वास सजीव हो जाता है। सच्चा साधक एक 'है' (सत्-तत्त्व)-के सिवाय अन्य (असत्)-की सत्ता स्वीकार ही नहीं करता। अन्यकी सत्ता स्वीकार न करनेपर साधकमें स्वतः 'है' की स्मृति जाग्रत् हो जाती है। 'है' की स्मृतिसे साधककी साध्यके साथ अभिन्नता हो जाती है।

कोई मनुष्य 'नहीं' को कितनी ही दृढ़तासे स्वीकार करे, उसकी निवृत्ति होती ही है, प्राप्ति होती ही नहीं। परन्तु 'है' को कितना ही अस्वीकार करे, उसकी प्राप्ति ही होती है। उसकी विस्मृति तो हो सकती है, पर निवृत्ति होती ही नहीं। अतः एक सत्तामात्र 'है' के सिवाय कुछ नहीं है—यह सार बात है, जिसका महापुरुषोंने अनुभव किया है।

संसारमें अभाव ही मुख्य है। इसके भावमें भी अभाव है, अभावमें भी अभाव है। परन्तु परमात्मामें भाव ही मुख्य है। उनके अभावमें भी भाव है, भावमें भी भाव है। संसार दीखे या न दीखे, मिले या न मिले, उसका 'वियोग' ही मुख्य है। परमात्मा दीखें या न दीखें, मिलें या न मिलें, उनका 'योग' ही मुख्य है। संसारका नित्यवियोग है। परमात्माका नित्ययोग है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥

अविनाशी तो उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश कोई भी नहीं कर सकता।

व्याख्या—जिस सत्-तत्त्वका अभाव विद्यमान नहीं है, वही अविनाशी तत्त्व है, जिससे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। अविनाशी होनेके कारण तथा सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त होनेके कारण उसका कभी कोई नाश कर सकता ही नहीं। नाश उसीका होता है, जो नाशवान् तथा एक देशमें स्थित हो।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ १८॥

अविनाशी, जाननेमें न आनेवाले और नित्य रहनेवाले इस शरीरीके ये देह अन्तवाले कहे गये हैं। इसलिये हे अर्जुन! तुम युद्ध करो।

व्याख्या—पूर्वश्लोकमें शरीरीको अविनाशी बताकर अब भगवान् यह कहते हैं कि मात्र शरीर नाशवान् हैं, मरनेवाले हैं। तात्पर्य है कि मिला हुआ तथा बिछुड़नेवाला शरीर हमारा स्वरूप नहीं है। शरीर तो केवल कर्म-सामग्री है, जिसका उपयोग केवल दूसरोंकी सेवा करनेमें ही है। अपने लिये उसका किंचिन्मात्र भी उपयोग नहीं है। अतः शरीरके नाशसे अपनी कोई हानि नहीं होती।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

जो मनुष्य इस अविनाशी शरीरीको मारनेवाला मानता है और जो मनुष्य इसको मरा मानता है, वे दोनों ही इसको नहीं जानते; क्योंकि यह न मारता है और न मारा जाता है।

व्याख्या—**शरीरीमें कर्तापन नहीं है और मृत्युरूप विकार भी नहीं है। कर्तापन आदि सभी विकार प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्ध (मैं-पन)-में ही हैं।**

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥

यह शरीरी न कभी जन्मता है और न मरता है तथा यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला नहीं है। यह जन्मरहित, नित्य-निरन्तर रहनेवाला, शाश्वत और अनादि है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।

व्याख्या— उत्पन्न होना, सत्तावाला दीखना, बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना—ये छः विकार शरीरमें ही होते हैं। शरीरीमें ये विकार कभी हुए नहीं, कभी होंगे नहीं, कभी हो सकते ही नहीं।

शरीरी कभी उत्पन्न नहीं होता—'न जायते', 'अजः'; उत्पन्न होकर विकारी सत्तावाला नहीं होता—'अयं भूत्वा भविता वा न भूयः'; यह बदलता नहीं—'शाश्वतः'; यह बढ़ता नहीं—'पुराणः', यह क्षीण नहीं होता—'नित्यः'; और यह मरता नहीं—'न म्रियते', 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'।

मुख्य विकार दो ही हैं—उत्पन्न होना और नष्ट होना। अतः प्रस्तुत श्लोकमें इन दोनों विकारोंका शरीरीमें दो-दो बार निषेध किया गया है; जैसे—'न जायते म्रियते' और 'अजः', 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

हे पृथानन्दन! जो मनुष्य इस शरीरीको अविनाशी, नित्य, जन्मरहित और अव्यय जानता है, वह कैसे किसको मारे और कैसे किसको मरवाये?

व्याख्या— शरीरकी किसी भी क्रियासे शरीरीमें किंचिन्मात्र भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। अतः शरीरी किसी भी क्रियाका न तो कर्ता (तथा भोक्ता) बनता है, न कारयिता ही बनता है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही देही पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है।

व्याख्या— जैसे कपड़े बदलनेसे मनुष्य बदल नहीं जाता, ऐसे ही अनेक शरीरोंको धारण करने और छोड़नेपर भी शरीरी वही-का-वही रहता है, बदलता नहीं। तात्पर्य है कि शरीरके परिवर्तन तथा नाशसे स्वयंका परिवर्तन तथा नाश नहीं होता। यह सबका अनुभव है कि हम रहते हैं, बचपन आता और चला जाता है। हम रहते हैं, जवानी आती और चली जाती है। हम रहते हैं, बुढ़ापा आता और चला जाता है। वास्तवमें न बचपन है, न जवानी है, न बुढ़ापा है, न मृत्यु है, प्रत्युत केवल हमारी सत्ता ही है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

शस्त्र इस शरीरीको काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकती।

व्याख्या—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह अपरा प्रकृति (जड़-विभाग) है और स्वरूप परा प्रकृति (चेतन-विभाग) है (गीता ७। ४-५)। अपरा प्रकृति परा प्रकृतितक पहुँच ही नहीं सकती। जड़ पदार्थ चेतन-तत्त्वतक कैसे पहुँच सकता है? अन्धकार सूर्यतक कैसे पहुँच सकता है? इसलिये जड़ वस्तु चेतन शरीरीमें किंचिन्मात्र कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकती।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

यह शरीरी काटा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह गीला नहीं किया जा सकता और यह सुखाया भी नहीं जा सकता। कारण कि यह नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है।

व्याख्या— जड़ वस्तु शरीरीमें कोई भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकती; क्योंकि शरीरी स्वतः-स्वाभाविक निर्विकार है। निर्विकारता इसका स्वरूप है।

शरीरी सर्वगत है, शरीरगत नहीं। जो चौरासी लाख योनियोंसे होकर आया, वह शरीरगत कैसे हो सकता है? जो सर्वगत है, वह शरीरगत (एकदेशीय) नहीं हो सकता और जो शरीरगत है, वह सर्वगत नहीं हो सकता।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

यह देही प्रत्यक्ष नहीं दीखता, यह चिन्तनका विषय नहीं है और यह निर्विकार कहा जाता है। अत: इस देहीको ऐसा जानकर शोक नहीं करना चाहिये।

व्याख्या— साधकका स्वरूप अव्यक्त है; परन्तु शरीररूपसे वह अपनेको व्यक्त मानता है—यह साधककी मूल भूल है। इस भूलका प्रायश्चित्त करनेके लिये तीन बातें हैं—(१) साधक अपनी भूलको स्वीकार करे कि अपनेको शरीर मानकर मैंने भूल की, (२) साधक अपनी भूलका पश्चात्ताप करे कि साधक होकर मैंने ऐसी भूल की और (३) साधक यह निश्चय करे कि अब आगे मैं कभी ऐसी भूल नहीं करूँगा।

शरीरी (सत्-तत्त्व)-का अनुभव तो किया जा सकता है, पर वर्णन नहीं किया जा सकता। उसका जो भी वर्णन या चिन्तन किया जाता है, वह वास्तवमें प्रकृतिका ही होता है। एक बार शरीरीका अनुभव होनेपर फिर मनुष्य सदाके लिये शोकरहित हो जाता है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ २६॥

हे महाबाहो! अगर तुम इस देहीको नित्य पैदा होनेवाला अथवा नित्य मरनेवाला भी मानो, तो भी तुम्हें इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिये।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥

कारण कि पैदा हुएकी जरूर मृत्यु होगी और मरे हुएका जरूर जन्म होगा। अत: (इस जन्म-मरणरूप परिवर्तनके प्रवाहका) निवारण नहीं हो सकता। अत: इस विषयमें तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

व्याख्या— जो मिला है और बिछुड़नेवाला है, उसपर किसीका स्वतन्त्र अधिकार नहीं चलता। कारण कि मिली हुई और बिछुड़नेवाली वस्तु अपनी और अपने लिये नहीं होती, प्रत्युत संसारकी और संसारके लिये ही होती है। उसका उपयोग केवल संसारकी सेवाके लिये ही हो सकता है, अपने लिये नहीं।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥

हे भारत! सभी प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद अप्रकट हो जायँगे, केवल बीचमें ही प्रकट दीखते हैं। अत: इसमें शोक करनेकी बात ही क्या है?

व्याख्या—शरीरी स्वयं अविनाशी है, शरीर विनाशी है। स्थूलदृष्टिसे केवल शरीरोंको ही देखें तो वे जन्मसे पहले भी हमारे साथ नहीं थे और मरनेके बाद भी वे हमारे साथ नहीं रहेंगे। वर्तमानमें वे हमारे साथ मिले हुए-से दीखते हैं, पर वास्तवमें हमारा उनसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। इस तरह मिले हुए और बिछुड़नेवाले प्राणियोंके लिये शोक करनेसे क्या लाभ?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

कोई इस शरीरीको आश्चर्यकी तरह देखता (अनुभव करता) है और वैसे ही दूसरा कोई इसका आश्चर्यकी तरह वर्णन करता है तथा अन्य कोई इसको आश्चर्यकी तरह सुनता है और इसको सुनकर भी कोई नहीं जानता अर्थात् यह दुर्विज्ञेय है।

व्याख्या—यह शरीरी इतना विलक्षण है कि इसका अनुभव भी आश्चर्यजनक होता है, वर्णन भी आश्चर्यजनक होता है और इसका वर्णन सुनना भी आश्चर्यजनक होता है। परन्तु शरीरीका अनुभव सुननेमात्रसे अर्थात् अभ्याससे नहीं होता, प्रत्युत स्वीकार करनेसे होता है। इसका उपाय है—चुप होना, शान्त होना, कुछ न करना।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! सबके देहमें यह देही नित्य ही अवध्य है। इसलिये सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये अर्थात् किसी भी प्राणीके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

व्याख्या— प्राणिमात्र परमात्माका अंश है—'ममैवांशो जीवलोके' (गीता १५।७) *'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'* (मानस, उत्तर० ११७।१)। परमात्माका अंश होनेके नाते इसका कभी नाश हुआ ही नहीं, कभी नाश होगा ही नहीं, कभी नाश हो सकता ही नहीं। अविनाशित्व, ज्ञान और आनन्द शरीरीके गुण नहीं हैं, प्रत्युत स्वरूप हैं।

शरीर केवल कर्म करनेका तथा उसका फल भोगनेका उपकरण है। अतः शरीरका सम्बन्ध नाशवान् संसारके साथ है; क्योंकि यह संसारका ही अंश है।

व्याकरणकी दृष्टिसे देखें तो मतुप्, इनि आदि प्रत्यय छः अर्थोंमें प्रयुक्त होते हैं।

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

'अस्तिविवक्षामें जो मतुप् आदि प्रत्यय होते हैं, वे सब बहुत्व, निन्दा, प्रशंसा, नित्ययोग, अतिशय और संसर्ग—इन छः विषयोंमें ही होते हैं।'

यहाँ जीवात्माके लिये 'निन्दा' अर्थमें 'इनि' प्रत्यय किया गया है, जिससे 'देही', 'शरीरी' आदि शब्द बनते हैं। कारण कि जिस चिन्मय एवं अविनाशी सत्ता (आत्मा)-का जड़ एवं नाशवान् शरीर या देहसे किंचिन्मात्र भी कोई सम्बन्ध है ही नहीं, उसे शरीरी या देही कहना वास्तवमें उसकी निन्दा ही है। उदाहरणार्थ, जिस मनुष्यको कोढ़ है, उसे कोढ़ी कहना वास्तवमें उसकी निन्दा है; क्योंकि कोढ़ उसका स्वरूप नहीं है, प्रत्युत आगन्तुक दोष है। इसी तरह शरीर उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है—'अन्तवन्त इमे देहाः' (गीता २।१८), पर आत्मा उत्पन्न और नष्ट होनेवाला नहीं है—'देही नित्यमवध्योऽयम्' (गीता २।३०), 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' (गीता २।२०)। जब शरीर ही नहीं रहेगा तो फिर शरीरी कैसे रहेगा? कोढ़ीको तो कोढ़ खराब दीखता है, पर जीवको अज्ञानवश शरीर खराब न दीखकर उल्टे बढ़िया दीखता है! तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्ने कृपापूर्वक अज्ञानी मनुष्योंको समझानेके लिये ही जीवात्मा (चेतन-तत्त्व)-को शरीरी और देही कहा है। वास्तवमें जीवात्मा शरीरी अथवा देही नहीं है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥

और अपने क्षात्रधर्मको देखकर भी तुम्हें विकम्पित अर्थात् कर्तव्य-कर्मसे विचलित नहीं होना चाहिये; क्योंकि धर्ममय युद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये दूसरा कोई कल्याणकारक कर्म नहीं है।

व्याख्या— **यदि साधककी रुचि, विश्वास और योग्यता ज्ञानयोगकी नहीं है तो उसे कर्मयोगका पालन करना चाहिये। कारण कि ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंका फल एक ही है (गीता ५। ४-५)। तात्पर्य है कि शरीर-शरीरीके विवेकको महत्त्व देनेसे जो तत्त्व मिलता है, वही तत्त्व शरीरद्वारा स्वधर्म (कर्तव्य-कर्म)-का पालन करनेसे भी मिल सकता है। अतः भगवान् कर्तव्य-कर्म (क्षात्र-धर्म)-के पालनका प्रकरण आरम्भ करते हैं।**

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥

अपने-आप प्राप्त हुआ युद्ध खुला हुआ स्वर्गका दरवाजा भी है। हे पृथानन्दन! वे क्षत्रिय बड़े सुखी (भाग्यशाली) हैं, जिनको ऐसा युद्ध प्राप्त होता है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३॥

अब अगर तू यह धर्ममय युद्ध नहीं करेगा तो अपने धर्म और कीर्तिका त्याग करके पापको प्राप्त होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४॥

और सब प्राणी भी तेरी सदा रहनेवाली अपकीर्तिका कथन अर्थात् निन्दा करेंगे। वह अपकीर्ति सम्मानित मनुष्यके लिये मृत्युसे भी बढ़कर दु:खदायी होती है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५॥

तथा महारथीलोग तुझे भयके कारण युद्धसे हटा हुआ मानेंगे। जिनकी धारणामें तू बहुमान्य हो चुका है, (उनकी दृष्टिमें) तू लघुताको प्राप्त हो जायगा।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥

तेरे शत्रुलोग तेरी सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए बहुत-से न कहनेयोग्य वचन भी कहेंगे। उससे बढ़कर और दु:खकी बात क्या होगी?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

अगर (युद्धमें) तू मारा जायगा तो तुझे स्वर्गकी प्राप्ति होगी और अगर (युद्धमें) तू जीत जायगा तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा। अतः हे कुन्तीनन्दन! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार (युद्ध करनेसे) तू पापको प्राप्त नहीं होगा।

व्याख्या— **भगवान् व्यवहारमें परमार्थकी कला बताते हैं—सिद्धि-असिद्धिमें सम (तटस्थ) रहकर निष्कामभावसे अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करना। ऐसा करनेसे मनुष्य युद्ध-जैसा घोर कर्म करते हुए भी अपना कल्याण कर सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें अपना कल्याण करनेमें समर्थ तथा स्वतन्त्र है।**

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥

हे पार्थ! यह समबुद्धि तेरे लिये (पहले) सांख्य-योगमें कही गयी और अब तू इसको कर्मयोगके विषयमें सुन; जिस समबुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्म-बन्धनका त्याग कर देगा।

व्याख्या— **भगवान्‌ने इकतीसवेंसे सैंतीसवें श्लोकतक कर्तव्यविज्ञान (धर्मशास्त्र) अर्थात् 'कर्म' का वर्णन किया, अब इस उन्तालीसवें श्लोकसे तिरपनवें श्लोकतक योग-विज्ञान (मोक्षशास्त्र) अर्थात् 'कर्मयोग' का वर्णन करते हैं।**

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥

मनुष्यलोकमें इस समबुद्धिरूप धर्मके आरम्भका नाश नहीं होता तथा (इसके अनुष्ठानका) उल्टा फल भी नहीं होता और इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान (जन्म-मरणरूप) महान् भयसे रक्षा कर लेता है।

व्याख्या— भगवान्‌ने चार प्रकारसे समताकी महिमा कही है—(१) समतासे मनुष्य कर्म-बन्धनसे छूट जाता है (२) समताके आरम्भ अर्थात् उद्देश्यका भी कभी नाश नहीं होता (३) समताके अनुष्ठानमें यदि कोई भूल हो जाय तो उसका उल्टा फल नहीं होता, और (४) समताका थोड़ा-सा भी भाव हो जाय तो वह कल्याण कर देता है। जीवनमें थोड़ी भी समता आ जाय तो उसका नाश नहीं होता। भय कितना ही महान् हो, उसका नाश हो जाता है।

असत्‌को सत्ता तथा महत्ता देनेसे महान् समता भी स्वल्प हो जाती है और स्वल्प भय भी महान् हो जाता है। यदि हम असत्‌को सत्ता तथा महत्ता न दें तो समता महान् और भय स्वल्प (नष्ट) हो जाता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

हे कुरुनन्दन! इस (समबुद्धिकी प्राप्ति)-के विषयमें निश्चयवाली बुद्धि एक ही होती है। जिनका एक निश्चय नहीं है, ऐसे मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुत शाखाओंवाली ही होती हैं।

व्याख्या—समताकी प्राप्ति उसीको होती है, जिसका उद्देश्य एक होता है। अनेक उद्देश्य कामनाके कारण होते हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥

हे पृथानन्दन! जो कामनाओंमें तन्मय हो रहे हैं, स्वर्गको ही श्रेष्ठ माननेवाले हैं, वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंमें प्रीति रखनेवाले हैं, (भोगोंके सिवाय) और कुछ है ही नहीं—ऐसा कहनेवाले हैं, वे अविवेकी मनुष्य इस प्रकारकी जिस पुष्पित (दिखाऊ शोभायुक्त) वाणीको कहा करते हैं, जो कि जन्मरूपी कर्मफलको देनेवाली है तथा भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

उस पुष्पित वाणीसे जिसका अन्त:करण हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है, और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती।

व्याख्या—**भोग और ऐश्वर्य (संग्रह)-की आसक्ति कल्याणमें मुख्य बाधक है। सांसारिक भोगोंको भोगने तथा रुपयों आदिका संग्रह करनेवाला मनुष्य अपने कल्याणका निश्चय भी नहीं कर सकता, फिर कल्याण करना तो दूर रहा! इसलिये भगवान् निष्कामभाव (योग)-का अन्वय-व्यतिरेकसे वर्णन करते हैं।**

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

वेद तीनों गुणोंके कार्यका ही वर्णन करनेवाले हैं; हे अर्जुन! तू तीनों गुणोंसे रहित हो जा, राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हो जा, निरन्तर नित्यवस्तु परमात्मामें स्थित हो जा, योगक्षेमकी चाहना भी मत रख और परमात्मपरायण हो जा।

व्याख्या—भगवान् अर्जुनको आज्ञा देते हैं कि वेदोंके जिस अंशमें सकामभावका वर्णन है, उसका त्याग करके तू निष्कामभावको ग्रहण कर। निष्कामभावसे तू तीनों गुणोंसे अतीत (जन्म-मरणसे रहित) हो जायगा। मिलने और बिछुड़नेवाले संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके तू नित्य रहनेवाली चिन्मय सत्तामें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव कर। योग (अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तुकी रक्षा)-की कामनाका भी त्याग कर दे; क्योंकि कामनामात्र बन्धनकारक है।

पहले बयालीसवें श्लोकमें भगवान्ने बताया कि जो मनुष्य 'वेदवादरताः' (वेदोक्त सकाम कर्मोंमें रुचि रखनेवाले) होते हैं, उनकी बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं होती, कारण कि व्यवसायात्मिका बुद्धिके लिये निष्काम होना आवश्यक है। वेद तीनों गुणोंके कार्यका वर्णन करनेवाले हैं, इसलिये भगवान् अर्जुनको तीनों गुणोंसे रहित होनेकी आज्ञा देते हैं—'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'।

वेदोक्त सकाम अनुष्ठानोंको करनेवाले मनुष्योंको योगक्षेमकी प्राप्ति नहीं होती और वे संसार-चक्रमें पड़े रहते हैं—'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते' (गीता ९। २१)। संसार-चक्रमें पड़नेका कारण वेद नहीं हैं, प्रत्युत कामना है।

भगवत्परायण साधकको भोग व संग्रहकी कामना तो दूर रही, योगक्षेमकी भी कामना नहीं करनी चाहिये। इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तू मेरे परायण होकर योगक्षेमकी भी कामनाका त्याग कर दे अर्थात् सांसारिक अथवा पारमार्थिक कोई भी कामना न रखकर सर्वथा निष्काम हो जा।

भगवान्के समान दयालु कोई नहीं है। वे कहते हैं कि भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ—'योगक्षेमं वहाम्यहम्' (गीता ९। २२) मैं उनके साधनकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर देता हूँ—'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि' (१८। ५८) और उनका उद्धार भी कर देता हूँ—'तेषामहं समुद्धर्ता०' (१२। ७) अतः भगवान्के भजनमें लगे हुए साधकको अपने साधन तथा उद्धारके विषयमें कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

सब तरफसे परिपूर्ण महान् जलाशयके प्राप्त होनेपर छोटे गड्ढोंमें भरे जलमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता, (वेदों और शास्त्रोंको) तत्त्वसे जाननेवाले ब्रह्मज्ञानीका सम्पूर्ण वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रहता है अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता।

व्याख्या— **इस श्लोकमें ऐसे महापुरुषका वर्णन हुआ है, जिसे परमविश्रामकी प्राप्ति हो गयी है। परम-विश्रामकी प्राप्ति होनेपर फिर किसी क्रिया तथा पदार्थकी आवश्यकता नहीं रहती। वह पूर्णताको प्राप्त हो जाता है। ऐसे महापुरुषको 'ब्राह्मण' कहनेका तात्पर्य है कि जिसने पूर्णताको प्राप्त कर लिया है, वही वास्तविक 'ब्राह्मण' है।**

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥

कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं। अत: तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।

व्याख्या— एक कर्म-विभाग (करना) है और एक फल-विभाग (होना) है। 'करना' मनुष्यके अधीन है और 'होना' प्रारब्ध अथवा परमात्माके अधीन है। प्रारब्धसे अथवा परमात्माके विधानसे मनुष्यको जो कुछ मिला है, उसे अपने भोगमें न लगाकर दूसरोंकी सेवामें लगाना मनुष्यका कर्तव्य है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

हे धनंजय! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर; क्योंकि समत्व ही योग कहा जाता है।

व्याख्या— एक वस्तु या व्यक्तिमें राग होगा तो दूसरी वस्तु या व्यक्तिमें द्वेष होना स्वाभाविक है। राग-द्वेषके रहते हुए कर्मकी सिद्धि-असिद्धिमें समताका आना असम्भव है। राग-द्वेषके न रहनेपर जो समता आती है, उस समतामें स्थित रहकर कर्तव्य-कर्मोंको करना चाहिये। समताको ही 'योग' कहा जाता है। कर्म तो करणसापेक्ष होते हैं, पर योग करणनिरपेक्ष है। इस समतारूपी योगमें स्थित साधक कभी विचलित (योगभ्रष्ट) नहीं होता।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

बुद्धियोग (समता)-की अपेक्षा सकामकर्म दूरसे (अत्यन्त) ही निकृष्ट हैं। अतः हे धनञ्जय! तू बुद्धि (समता)-का आश्रय ले; क्योंकि फलके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन हैं।

व्याख्या— योगकी अपेक्षा कर्म दूरसे ही निकृष्ट हैं, उनकी परस्पर तुलना नहीं हो सकती। योग नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहनेवाला (अविनाशी) है और कर्म आदि-अन्तवाला (नाशवान्) है, फिर उनकी तुलना हो ही कैसे सकती है? इसलिये कर्मोंका आश्रय न लेकर योगका ही आश्रय लेना चाहिये। योगकी प्राप्ति कर्मोंके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत कर्म तथा कर्मफलके साथ सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होती है। कर्मोंका आश्रय जन्म-मरण देनेवाला और योगका आश्रय मुक्त करनेवाला है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

बुद्धि (समता)-से युक्त मनुष्य यहाँ (जीवित अवस्थामें ही) पुण्य और पाप—दोनोंका त्याग कर देता है। अतः तू योग (समता)-में लग जा; क्योंकि कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

व्याख्या— समतामें स्थित मनुष्य जलमें कमलकी भाँति संसारमें रहते हुए भी पाप-पुण्य दोनोंसे नहीं बँधता अर्थात् मुक्त हो जाता है। यही जीवन्मुक्ति है।

पूर्वश्लोकमें आया है कि योगकी अपेक्षा कर्म दूरसे ही निकृष्ट हैं, इसलिये मनुष्यको समतामें स्थित होकर कर्म करने चाहिये अर्थात् कर्मयोगका आचरण करना चाहिये। महत्त्व योग (समता)-का है, कर्मोंका नहीं। कल्याण करनेकी शक्ति योग (कर्मयोग)-में है, कर्मोंमें नहीं।

[बुद्धि, योग और बुद्धियोग—ये तीनों ही शब्द गीतामें 'कर्मयोग' के लिये आये हैं।]

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ ५१॥

कारण कि समतायुक्त बुद्धिमान् साधक कर्मजन्य फलका अर्थात् संसारमात्रका त्याग करके जन्मरूप बन्धनसे मुक्त होकर निर्विकार पदको प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या— **समतामें स्थित होकर कर्म करनेवाले अर्थात् कर्मयोगी साधक जन्म-मरणसे रहित होकर परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं। अतः कर्मयोग मुक्तिका स्वतन्त्र साधन है।**

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥

जिस समय तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलको भलीभाँति तर जायगी, उसी समय तू सुने हुए और सुननेमें आनेवाले भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या— **मिलने और बिछुड़नेवाले पदार्थों और व्यक्तियोंको अपना तथा अपने लिये मानना मोह है। इस मोहरूपी दलदलसे निकलनेपर साधकको संसारसे वैराग्य हो जाता है। संसारसे वैराग्य होनेपर अर्थात् रागका नाश होनेपर योगकी प्राप्ति हो जाती है।**

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३॥

जिस कालमें शास्त्रीय मतभेदोंसे विचलित हुई तेरी बुद्धि निश्चल हो जायगी और परमात्मामें अचल हो जायगी, उस कालमें तू योगको प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या— पूर्वश्लोकमें सांसारिक मोहके त्यागकी बात कहकर भगवान् प्रस्तुत श्लोकमें शास्त्रीय मोह अर्थात् सीखे हुए (अनुभवहीन) ज्ञानके त्यागकी बात कहते हैं। ये दोनों ही प्रकारके मोह साधकके लिये बाधक हैं। शास्त्रीय मोहके कारण साधक द्वैत, अद्वैत आदि मतभेदोंमें उलझकर खण्डन-मण्डनमें लग जाता है। केवल अपने कल्याणका ही दृढ़ उद्देश्य होनेपर साधक सुगमतापूर्वक इस (दोनों प्रकारके) मोहसे तर जाता है।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ ५४॥

अर्जुन बोले—हे केशव! परमात्मामें स्थित स्थिर बुद्धिवाले मनुष्यके क्या लक्षण होते हैं? वह स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है अर्थात् व्यवहार करता है?

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन! जिस कालमें साधक मनमें आयी सम्पूर्ण कामनाओंका भलीभाँति त्याग कर देता है और अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थिरबुद्धि कहा जाता है।

व्याख्या— **मनकी स्थिरताकी अपेक्षा बुद्धिकी स्थिरता श्रेष्ठ है; क्योंकि मनकी स्थिरतासे तो लौकिक सिद्धियाँ प्रकट होती हैं, पर बुद्धिकी स्थिरतासे कल्याण हो जाता है। मनकी स्थिरता है—वृत्तियोंका निरोध और बुद्धिकी स्थिरता है—उद्देश्यकी दृढ़ता।**

त्याग उसीका होता है जो वास्तवमें सदासे ही त्यक्त है। कामना स्वयंगत न होकर मनोगत है। परन्तु मनके साथ तादात्म्य होनेके कारण कामना स्वयंमें दीखने लगती है। जब साधकको स्वयंमें सम्पूर्ण कामनाओंके अभावका अनुभव हो जाता है, तब उसकी बुद्धि स्वतः स्थिर हो जाती है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता और सुखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें स्पृहा नहीं होती तथा जो राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, वह मननशील मनुष्य स्थिरबुद्धि कहा जाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५७॥

सब जगह आसक्ति-रहित हुआ जो मनुष्य उस-उस शुभ-अशुभको प्राप्त करके न तो प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५८॥

जिस तरह कछुआ अपने अंगोंको सब ओरसे समेट लेता है, ऐसे ही जिस कालमें यह (कर्मयोगी) इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

व्याख्या— **स्वयं नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है और शरीर नित्य-निरन्तर बदलता रहता है; अतः दोनोंके स्वभावमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु जब स्वयं शरीरके साथ मैं-मेरेका सम्बन्ध मान लेता है, तब बुद्धिमें (शरीर-संसारका असर पड़नेसे) अन्तर पड़ने लगता है। मैं-मेरापन मिटनेसे बुद्धिमें जो अन्तर पड़ता था, वह मिट जाता है और बुद्धि स्थिर हो जाती है। बुद्धि स्थिर होनेसे स्वयं अपने-आपमें ही स्थित हो जाता है।**

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ ५९॥

निराहारी (इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेवाले) मनुष्यके भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रस निवृत्त नहीं होता। परन्तु परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेसे इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यका रस भी निवृत्त हो जाता है अर्थात् उसकी संसारमें रसबुद्धि नहीं रहती।

व्याख्या— भोगोंके प्रति सूक्ष्म आसक्तिका नाम 'रस' है। यह रस साधककी अहंतामें रहता है। जबतक यह रस रहता है, तबतक परमात्माका अलौकिक रस (प्रेम) प्रकट नहीं होता। इस रसबुद्धिके कारण ही भोगोंकी पराधीनता रहती है। साधकके द्वारा भोगोंका त्याग करनेपर भी रसबुद्धि बनी रहती है, जिसके कारण भोगोंके त्यागका बड़ा महत्त्व दीखता है और अभिमान भी होता है कि मैंने भोगोंका त्याग कर दिया है।

यद्यपि यह रस तत्त्वप्राप्तिके पहले भी नष्ट हो सकता है, तथापि तत्त्वप्राप्तिके बाद यह सर्वथा नष्ट हो ही जाता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

कारण कि हे कुन्तीनन्दन! (रसबुद्धि रहनेसे) यत्न करते हुए विद्वान् मनुष्यकी भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ उसके मनको बलपूर्वक हर लेती हैं।

व्याख्या— बुद्धिमान् साधकको अपनी इन्द्रियोंपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। कारण कि जबतक अहंतामें रसबुद्धि पड़ी है, तबतक साधकका पतन होनेकी सम्भावना रहती है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

कर्मयोगी साधक उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण होकर बैठे; क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है।

व्याख्या— साधनकी पूर्णताके लिये भगवान्‌की परायणता आवश्यक है। भगवान्‌के परायण होनेसे इन्द्रियाँ सुगमतापूर्वक वशमें हो जाती हैं। अपने पुरुषार्थसे इन्द्रियोंको सर्वथा वशमें करना कठिन है। इन्द्रियाँ सर्वथा वशमें होनेसे ही बुद्धि स्थिर होती है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥

विषयोंका चिन्तन करनेवाले मनुष्यकी उन विषयोंमें आसक्ति पैदा हो जाती है। आसक्तिसे कामना पैदा होती है। कामनासे (बाधा लगनेपर) क्रोध पैदा होता है। क्रोध होनेपर सम्मोह (मूढ़भाव) हो जाता है। सम्मोहसे स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। स्मृति भ्रष्ट होनेपर बुद्धि (विवेक)-का नाश हो जाता है। बुद्धिका नाश होनेपर मनुष्यका पतन हो जाता है।

व्याख्या— **विषयभोगोंको भोगना तो दूर रहा, उनका रागपूर्वक चिन्तन करनेमात्रसे साधक पतनकी ओर चला जाता है; कारण कि भोगोंका चिन्तन भी भोग भोगनेसे कम नहीं है।**

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥
प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

परन्तु वशीभूत अन्त:करणवाला (कर्मयोगी साधक) राग-द्वेषसे रहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता हुआ (अन्त:करणकी) निर्मलताको प्राप्त हो जाता है। (अन्त:करणकी) निर्मलता प्राप्त होनेपर साधकके सम्पूर्ण दु:खोंका नाश हो जाता है और ऐसे शुद्ध चित्तवाले साधककी बुद्धि नि:सन्देह बहुत जल्दी (परमात्मामें) स्थिर हो जाती है।

व्याख्या— यदि विषयोंमें रागबुद्धि न हो तो शास्त्रविहित भोगोंका सेवन करते हुए भी पतन नहीं होता, प्रत्युत उत्थान ही होता है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥

जिसके मन-इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, ऐसे मनुष्यकी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती और (व्यवसायात्मिका बुद्धि न होनेसे) उस अयुक्त मनुष्यमें निष्कामभाव अथवा कर्तव्यपरायणताका भाव नहीं होता। निष्कामभाव न होनेसे उसको शान्ति नहीं मिलती। फिर शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है?

व्याख्या—कर्मयोगमें निष्कामभावकी मुख्यता है। निष्कामभावके लिये मन और इन्द्रियोंका संयम तथा एक निश्चयवाली बुद्धिका होना आवश्यक है।

अशान्तिका मूल कारण कामना है। जबतक मनुष्यके भीतर किसी प्रकारकी कामना है, तबतक उसे शान्ति नहीं मिल सकती। कामनायुक्त चित्त सदा अशान्त ही रहता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥

कारण कि (अपने-अपने विषयोंमें) विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे (एक ही इन्द्रिय) जिस मनको अपना अनुगामी बना लेती है, वह (अकेला मन) जलमें नौकाको वायुकी तरह इसकी बुद्धिको हर लेता है।

व्याख्या—जबतक साधककी बुद्धि एक उद्देश्यमें दृढ़ नहीं होती, तबतक सम्पूर्ण इन्द्रियोंका तो कहना ही क्या है, एक ही इन्द्रिय मनको हर लेती है और मन बुद्धिको हरकर उसे भोगोंमें लगा देता है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८॥

इसलिये हे महाबाहो! जिस मनुष्यकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सर्वथा वशमें की हुई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंकी जो रात (परमात्मासे विमुखता) है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है और जिसमें सब प्राणी जागते हैं (भोग और संग्रहमें लगे रहते हैं), वह तत्त्वको जाननेवाले मुनिकी दृष्टिमें रात है।

व्याख्या—अब भगवान् सांख्ययोगकी दृष्टिसे कहते हैं; क्योंकि परिणाममें कर्मयोग तथा सांख्ययोग एक ही हैं (गीता ५। ४-५)। लोग जिस परमात्माकी तरफसे सोये हुए हैं, वह तत्त्वज्ञ महापुरुष और सच्चे साधकोंकी दृष्टिमें दिनके प्रकाशके समान है। सांसारिक लोगोंका तो पारमार्थिक साधकके साथ विरोध होता है, पर पारमार्थिक साधकका सांसारिक लोगोंके साथ विरोध नहीं होता—*'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'* (मानस, उत्तर० ११२ ख)। सांसारिक लोगोंने तो केवल संसारको ही देखा है, पर पारमार्थिक साधक संसारको भी जानता है और परमात्माको भी। संसारमें रचे-पचे लोग सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें ही अपनी उन्नति मानते हैं; परन्तु तत्त्वज्ञ महापुरुष और सच्चे साधकोंकी दृष्टिमें वह रातके अन्धकारकी तरह है, उसका किंचिन्मात्र भी महत्त्व नहीं है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं-
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ ७०॥

जैसे (सम्पूर्ण नदियोंका) जल चारों ओरसे जलद्वारा परिपूर्ण समुद्रमें आकर मिलता है, पर (समुद्र अपनी मर्यादामें) अचल स्थित रहता है, ऐसे ही सम्पूर्ण भोग-पदार्थ जिस संयमी मनुष्यको (विकार उत्पन्न किये बिना ही) प्राप्त होते हैं, वही मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला नहीं।

व्याख्या— **जब मनुष्य सर्वथा निष्काम हो जाता है, तब आवश्यक वस्तुएँ उसके पास स्वाभाविक आती हैं, वे उसके हृदयमें हर्ष आदि कोई विकार उत्पन्न नहीं करतीं। प्रारब्धके अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल जो भी परिस्थिति प्राप्त होती है, उससे उस तत्त्वज्ञ महापुरुषके अन्तःकरणमें किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार उत्पन्न नहीं होते, वह सर्वथा सम रहता है। परन्तु जिसके भीतर सांसारिक कामनाएँ हैं, उसे वस्तुएँ प्राप्त हों या न हों, वह सदा अशान्त ही रहता है।**

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ ७१॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके स्पृहारहित, ममतारहित और अहंतारहित होकर आचरण करता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।

व्याख्या— जब मनुष्य कामना, स्पृहा, ममता और अहंतासे छूट जाता है, तब उसे अपने भीतर नित्य-निरन्तर स्थित रहनेवाली शान्तिका अनुभव हो जाता है। मूलमें अहंता ही मुख्य है। सबका त्याग करनेपर भी अहंता शेष रह जाती है, पर अहंताका त्याग होनेपर सबका त्याग हो जाता है। अहंतासे राग, रागसे आसक्ति, आसक्तिसे ममता और ममतासे कामना तथा कामनासे फिर अनेक प्रकारके विकारोंकी उत्पत्ति होती है। साधकके लिये पहले ममताका त्याग करना सुगम पड़ता है। ममताका त्याग होनेपर कामना, स्पृहा और अहंताका त्याग करनेकी सामर्थ्य आ जाती है। वास्तवमें हम कामना, स्पृहा, ममता और अहंतासे रहित हैं। यदि हम इनसे रहित न होते तो कभी इनका त्याग न कर पाते और भगवान् भी इनके त्यागकी बात नहीं कहते। सुषुप्तिमें अहंता आदिके अभावका अनुभव सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

मूलमें कामना, स्पृहा, ममता और अहंताकी सत्ता है ही नहीं—'नासतो विद्यते भावः'(गीता २। १६)। हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है। चिन्मय सत्तामात्रमें कामना, स्पृहा, ममता और अहंता होनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। ये कामना आदि जड़में ही रहते हैं, चेतनतक पहुँचते ही नहीं। चिन्मय सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। कामना, स्पृहा आदि निरन्तर नहीं रहते, प्रत्युत बदलते रहते हैं—यह सबका अनुभव है। प्रत्येक जन्ममें कामना, स्पृहा आदि अलग-अलग थे। इस जन्ममें भी बचपनमें कामना, स्पृहा आदि अलग थे, अब अलग हैं। हम इन्हें छोड़ते और पकड़ते रहते हैं। पहले खिलौनोंकी कामना थी, फिर रुपयोंकी कामना हो गयी। पहले माँमें ममता थी, फिर पत्नीमें ममता हो गयी। इस प्रकार कामना, स्पृहा, ममता आदिका आना-जाना, उत्पत्ति-विनाश, संयोग-वियोग, आरम्भ-अन्त आदि होता रहता है, पर सत्तामात्र स्वरूपका आना-जाना आदि होता ही नहीं। जो वस्तु है ही नहीं, उसे हमने पकड़ लिया अर्थात् उसे सत्ता और महत्ता दे दी—यही हमारी सबसे बड़ी भूल है। इस भूलको मिटानेकी जिम्मेवारी हमपर ही है, तभी भगवान् इनका त्याग करनेकी बात कहते हैं, अन्यथा जो है ही नहीं, उसका त्याग स्वतःसिद्ध है। जो स्वतःसिद्ध है, उसे ही प्राप्त करना है। नया निर्माण कुछ नहीं करना है। नया निर्माण ही हमारे बन्धनका, दुःखोंका कारण बनता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ ७२॥

हे पृथानन्दन! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर कभी कोई मोहित नहीं होता। इस स्थितिमें यदि अन्तकालमें भी स्थित हो जाय तो निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

व्याख्या— अहंतारहित होनेपर मनुष्य ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हो जाता है। उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं रहती। इस ब्राह्मी स्थितिकी प्राप्ति एक बार और सदाके लिये होती है। कारण कि ब्रह्ममें हमारी स्वतः-स्वाभाविक स्थिति है, पर अहंकारके कारण इसका अनुभव नहीं होता। 'मैं हूँ' मिट जाय और 'है' रह जाय—यही ब्राह्मी स्थिति है।

यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु मिलने और बिछुड़नेवाली तथा उत्पन्न और नष्ट होनेवाली होती है, वह हमारी तथा हमारे लिये नहीं हो सकती। शरीर तो मिलने-बिछुड़नेवाला तथा उत्पन्न-नष्ट होनेवाला है, पर स्वयं मिलने-बिछुड़नेवाला तथा उत्पन्न-नष्ट होनेवाला नहीं है। अतः साधक दृढ़तापूर्वक इस सत्यको स्वीकार कर ले कि मैं (स्वयं) त्रिकालमें भी शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है तथा मेरे लिये भी नहीं है।

'निर्वाण' शब्दके दो अर्थ होते हैं—लुप्त (खोया हुआ) और विश्राम (शान्त)। अतः खोये हुए ब्रह्मको पा लेना अथवा परम विश्रामको प्राप्त कर लेना ही निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति है। 'निर्वाण' शब्दका एक अर्थ शून्य भी होता है। शून्य अभावका वाचक नहीं है। शून्यका तात्पर्य है—जो न सत् हो, न असत् हो, न सदसत् हो और न सदसत्‌से भिन्न हो अर्थात् जो अनिर्वचनीय तत्त्व हो—'अतस्तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्मक चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं शून्यमेव' (सर्वदर्शनसंग्रह)।

क्रियामात्रका सम्बन्ध संसारके साथ है। हमारा स्वरूप अक्रिय है। इसलिये शरीरके द्वारा हम अपने (स्वरूपके) लिये कुछ नहीं कर सकते। शरीरके द्वारा हम कोई भी क्रिया करेंगे तो वह संसारके लिये ही होगी, अपने लिये नहीं।

पूर्वपक्ष—तो फिर हम अपने लिये क्या कर सकते हैं?

उत्तरपक्ष—हम अपने लिये अपने द्वारा निष्काम, निःस्पृह, निर्मम और निरहंकार हो सकते हैं। क्यों हो सकते हैं? क्योंकि हम वास्तवमें स्वरूपसे निष्काम, निःस्पृह, निर्मम और निरहंकार हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ तृतीयोऽध्यायः

तीसरा अध्याय

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! अगर आप कर्मसे बुद्धि (ज्ञान)-को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर हे केशव! मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं? आप अपने मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हैं। अतः आप निश्चय करके उस एक बातको कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—हे निष्पाप अर्जुन! इस मनुष्यलोकमें दो प्रकारसे होनेवाली निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमें ज्ञानियोंकी निष्ठा ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है।

व्याख्या—**कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों लौकिक निष्ठाएँ होनेसे समकक्ष हैं और दोनोंका एक ही फल है (गीता ५।४-५)। यद्यपि कर्मयोगमें क्रियाकी और सांख्ययोगमें विवेककी मुख्यता है, तथापि फलमें दोनों एक हैं।**

पूर्वपक्ष—**यहाँ भक्तियोग-निष्ठाकी बात नहीं कही गयी है, इससे सिद्ध हुआ कि कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दो ही साधन मान्य हैं?**

उत्तरपक्ष—**ऐसा नहीं है। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों साधकोंकी अपनी निष्ठाएँ हैं, पर भक्तियोग साधककी अपनी निष्ठा न होकर भगवन्निष्ठा है। भक्तियोगमें साधक भगवान्‌पर निर्भर रहता है।**

कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं। कर्मयोगमें जगत्‌की और ज्ञानयोगमें जीवकी मुख्यता है। जगत् और जीव दोनों लौकिक हैं—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' (गीता १५।१६); क्योंकि जगत् (जड़) और जीव (चेतन)—ये दोनों विभाग हमारे जाननेमें आते हैं, पर भगवान् जाननेमें नहीं आते। भगवान् माननेके विषय हैं, जाननेके नहीं। परन्तु भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है; क्योंकि इसमें भगवान्‌की मुख्यता है, जो जगत् और जीव दोनोंसे उत्तम हैं—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (गीता १५।१७)।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताका अनुभव करता है और न कर्मोंके त्यागमात्रसे सिद्धिको ही प्राप्त होता है।

व्याख्या—जबतक साधकमें क्रियाका वेग रहता है, तबतक साधकके लिये निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके लिये कर्म करने आवश्यक हैं। दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे क्रियाका वेग शान्त हो जाता है और सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् बाँधनेवाले नहीं रहते। केवल कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेपर क्रियाका वेग शान्त नहीं होता। क्रियाका वेग शान्त हुए बिना प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हुए बिना सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृतिके परवश हुए सब प्राणियोंसे प्रकृतिजन्य गुण कर्म करवा लेते हैं।

व्याख्या—**प्रकृतिका विभाग अलग है और स्वरूपका विभाग अलग है। क्रियामात्र प्रकृति-विभागमें है। स्वरूप अक्रिय है। प्रकृतिमें श्रम है और स्वरूपमें विश्राम है। अतः जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता।**

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६ ॥

जो कर्मेन्द्रियों (सम्पूर्ण इन्द्रियों)-को हठपूर्वक रोककर मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करते हुए बैठता है, वह मूढ़ बुद्धिवाला मनुष्य मिथ्याचारी (मिथ्या आचरण करनेवाला) कहा जाता है।

व्याख्या— दूसरे अध्यायमें भगवान् कह चुके हैं कि विषयोंका चिन्तन करनेवाले मनुष्यका पतन हो जाता है (गीता २।६२-६३)। यहाँ लोगोंको दिखानेके लिये बाहरसे स्थिर होकर बैठनेवाले तथा मनसे विषयोंका चिन्तन करनेवाले मनुष्यको मिथ्याचारी कहा गया है।

वास्तवमें (भोगबुद्धिसे) बाहरसे भोग भोगने और मनसे उनका चिन्तन करनेमें कोई अन्तर नहीं है। दोनोंका अन्तःकरणपर समान प्रभाव पड़ता है। एक दृष्टिसे मनसे भोगोंका चिन्तन करनेसे साधकका विशेष पतन होता है; क्योंकि जिन भोगोंकी प्राप्ति नहीं होती या जिन भोगोंको वह लोक-मर्यादासे भोग नहीं पाता अथवा जिन भोगोंको भोगनेमें वह असमर्थ होता है, उनको भी वह मनसे भोग सकता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

परन्तु हे अर्जुन! जो मनुष्य मनसे इन्द्रियोंपर नियन्त्रण करके आसक्तिरहित होकर (निष्कामभावसे) कर्मेन्द्रियों (समस्त इन्द्रियों)-के द्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।

व्याख्या—फलेच्छा और आसक्तिका त्याग करके दूसरोंके लिये कर्म करनेवाला कर्मयोगी ज्ञानयोगीसे भी श्रेष्ठ है। आगे पाँचवें अध्यायमें भी भगवान् कर्मयोगको ज्ञानयोगसे श्रेष्ठ बतायेंगे (गीता ५। २)।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

तू शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्तव्य-कर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥

यज्ञ (कर्तव्य-पालन)-के लिये किये जानेवाले कर्मोंसे अन्यत्र (अपने लिये किये जानेवाले) कर्मोंमें लगा हुआ यह मनुष्य-समुदाय कर्मोंसे बँधता है; इसलिये हे कुन्तीनन्दन! तू आसक्तिरहित होकर उस यज्ञके लिये ही कर्तव्य-कर्म कर।

व्याख्या— जो कर्म दूसरोंके लिये नहीं किये जाते, प्रत्युत अपने लिये किये जाते हैं, उन कर्मोंसे मनुष्य बँध जाता है। अतः साधकको ये तीन बातें स्वीकार कर लेनी चाहिये—(१) शरीरसहित कुछ भी मेरा नहीं है, (२) मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, और (३) मुझे अपने लिये कुछ भी नहीं करना है। पहली बात स्वीकार करनेसे दूसरी बात सुगम हो जायगी और दूसरी बात स्वीकार करनेसे तीसरी बात सुगम हो जायगी।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ११॥

प्रजापति ब्रह्माजीने सृष्टिके आदिकालमें कर्तव्य-कर्मोंके विधानसहित प्रजा (मनुष्य आदि)-की रचना करके (उनसे, प्रधानतया मनुष्योंसे) कहा कि तुमलोग इस कर्तव्यके द्वारा सबकी वृद्धि करो और यह (कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ) तुमलोगोंको कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला हो। इस (अपने कर्तव्य-कर्म)-के द्वारा तुमलोग देवताओंको उन्नत करो और वे देवतालोग (अपने कर्तव्यके द्वारा) तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।

व्याख्या— **अपने कर्तव्यका पालन करनेसे अर्थात् दूसरोंके लिये निष्कामभावसे कर्म करनेसे अपना तथा प्राणिमात्रका हित होता है। परन्तु अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे अपना तथा प्राणिमात्रका अहित होता है। कारण कि शरीरोंकी दृष्टिसे तथा आत्माकी दृष्टिसे भी मात्र प्राणी एक हैं, अलग-अलग नहीं।**

मनुष्यशरीर केवल कल्याण-प्राप्तिके लिये ही मिला है। अतः अपना कल्याण करनेके लिये कोई नया काम करना आवश्यक नहीं है, प्रत्युत जो काम करते हैं, उसे ही फलेच्छा और आसक्तिका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये करनेसे हमारा कल्याण हो जायगा।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ १२॥

यज्ञसे पुष्ट हुए देवता भी तुमलोगोंको (बिना माँगे ही) कर्तव्यपालनकी आवश्यक सामग्री देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंकी दी हुई सामग्रीको दूसरोंकी सेवामें लगाये बिना जो मनुष्य (स्वयं ही उसका) उपभोग करता है, वह चोर ही है।

व्याख्या— शरीर पाञ्चभौतिक सृष्टिमात्रका एक क्षुद्रतम अंश है। अतः स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण—तीनों शरीर संसारके तथा संसारके लिये ही हैं। शरीर स्वयं (स्वरूप)-के किंचिन्मात्र भी काम नहीं आता, प्रत्युत शरीरका सदुपयोग ही स्वयंके काम आता है। शरीरका सदुपयोग है—उसे दूसरोंकी सेवामें लगाना—संसारकी सेवामें समर्पित कर देना। जो मनुष्य मिली हुई सामग्रीका भाग दूसरों (अभावग्रस्तों)-को दिये बिना अकेले ही उसका उपभोग करता है, वह चोर ही है। उसे वही दण्ड मिलना चाहिये, जो चोरको मिलता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ १३॥

यज्ञशेष (योग)-का अनुभव करनेवाले श्रेष्ठ मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। परन्तु जो केवल अपने लिये ही पकाते अर्थात् सब कर्म करते हैं, वे पापीलोग तो पापका ही भक्षण करते हैं।

व्याख्या—**सम्पूर्ण पापोंका कारण है—कामना। अतः कामनापूर्वक अपने लिये कोई भी कर्म करना पाप (बन्धन) है और निष्कामभावसे दूसरेके लिये कर्म करना पुण्य है। पापका फल दुःख और पुण्यका फल सुख है। इसलिये स्वार्थभावसे अपने लिये कर्म करनेवाले दुःख पाते हैं और निःस्वार्थभावसे दूसरोंके लिये कर्म करनेवाले सुख पाते हैं।**

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं। अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे होती है। वर्षा यज्ञसे होती है। यज्ञ कर्मोंसे सम्पन्न होता है। कर्मोंको तू वेदसे उत्पन्न जान और वेदको अक्षर ब्रह्मसे प्रकट हुआ जान। इसलिये वह सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ (कर्तव्य-कर्म)-में नित्य स्थित है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

हे पार्थ! जो मनुष्य इस लोकमें इस प्रकार (परम्परासे) प्रचलित सृष्टि-चक्रके अनुसार नहीं चलता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला अघायु (पापमय जीवन बितानेवाला) मनुष्य संसारमें व्यर्थ ही जीता है।

व्याख्या— जो मनुष्य लोक-मर्यादा तथा शास्त्र-मर्यादाके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, उसे संसारमें जीनेका अधिकार नहीं है। कारण कि मनुष्योंके द्वारा अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे संसारमात्रको हानि पहुँचती है। वर्तमानमें जो अन्न, जल, वायु आदि प्रदूषित हो रहे हैं, अकाल, अनावृष्टि आदि प्राकृतिक आपदाएँ आ रही हैं, उसमें मनुष्यका कर्तव्य-च्युत होना ही प्रधान कारण है।

अपने लिये कर्म करना अनधिकृत चेष्टा है। कारण कि जो कुछ मिला है, वह सब संसारकी सामग्री है। शरीरादि सब पदार्थ संसारके ही हैं, अपने नहीं। अतः हमपर संसारका ऋण है; जिसे उतारनेके लिये हमें सब कर्म संसारके हितके लिये ही करने हैं।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ १७॥

परन्तु जो मनुष्य अपने-आपमें ही रमण करनेवाला और अपने-आपमें ही तृप्त तथा अपने-आपमें ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।

व्याख्या— जबतक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती, तभीतक मनुष्यपर कर्तव्य-पालनकी जिम्मेवारी रहती है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर महापुरुषके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। उसके संसारमें रहनेमात्रसे संसारका हित होता है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥

उस (कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुष)-का इस संसारमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें (किसी भी प्राणीके साथ) इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।

व्याख्या— जैसे 'करना' प्रकृतिके सम्बन्धसे है, ऐसे ही 'न करना' भी प्रकृतिके सम्बन्धसे है। करना और न करना—दोनों सापेक्ष हैं; परन्तु तत्त्व निरपेक्ष है। इसलिये स्वयं (चिन्मय सत्तामात्र)-का न तो करनेके साथ सम्बन्ध है, न नहीं करनेके साथ सम्बन्ध है। करना, न करना तथा पदार्थ—ये सब उसी सत्तामात्रसे प्रकाशित होते हैं (गीता १३। ३३)।

कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुषमें करनेका राग तथा पानेकी इच्छा सर्वथा नहीं रहती, इसलिये उसका न तो कुछ करनेसे मतलब रहता है, न कुछ नहीं करनेसे मतलब रहता है और न उसका किसी भी प्राणी-पदार्थसे कुछ पानेसे ही मतलब रहता है। तात्पर्य है कि उसका प्रकृति-विभागसे सर्वथा सम्बन्ध नहीं रहता।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

इसलिये तू निरन्तर आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्मका भलीभाँति आचरण कर; क्योंकि आसक्ति-रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता, प्रत्युत आसक्तिसे बँधता है। आसक्ति ही मनुष्यका पतन करती है, कर्म नहीं। आसक्ति-रहित होकर दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त होकर परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है। कर्ममें परिश्रम और कर्मयोगमें विश्राम है। शरीरकी आवश्यकता परिश्रममें है, विश्राममें नहीं। कर्मयोगमें शरीरसे होनेवाला परिश्रम (कर्म) दूसरोंकी सेवाके लिये और विश्राम (योग) अपने लिये है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥ २०॥

राजा जनक-जैसे अनेक महापुरुष भी कर्म (कर्मयोग)-के द्वारा ही परम-सिद्धिको प्राप्त हुए थे। इसलिये लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू (निष्काम-भावसे) कर्म करनेके ही योग्य है अर्थात् अवश्य करना चाहिये।

व्याख्या—**जनकादि राजाओंने भी कर्मयोगके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त की थी। इससे सिद्ध होता है कि कर्मयोग मुक्तिका स्वतन्त्र साधन है।**

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, दूसरे मनुष्य उसीके अनुसार आचरण करते हैं।

व्याख्या—**समाजमें जिस मनुष्यको लोग श्रेष्ठ मानते हैं, उसपर विशेष जिम्मेवारी रहती है कि वह ऐसा कोई आचरण न करे तथा ऐसी कोई बात न कहे, जो लोक-मर्यादा तथा शास्त्र-मर्यादाके विरुद्ध हो।**

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ २२॥

हे पार्थ! मुझे तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्तव्यकर्ममें ही लगा रहता हूँ।

व्याख्या— **भगवान् भी अवतारकालमें सदा कर्तव्य-कर्ममें लगे रहते हैं, इसलिये जो साधक फलेच्छा व आसक्ति-रहित होकर सदा कर्तव्य-कर्ममें लगा रहता है, वह सुगमतापूर्वक भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।**

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४॥

क्योंकि हे पार्थ! अगर मैं किसी समय सावधान होकर कर्तव्य-कर्म न करूँ (तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि) मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकरताको करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥ २५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित तत्त्वज्ञ महापुरुष भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे। सावधान तत्त्वज्ञ महापुरुष कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानी मनुष्योंकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न न करे, प्रत्युत स्वयं समस्त कर्मोंको अच्छी तरहसे करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवाये।

व्याख्या—**यद्यपि ज्ञानी महापुरुषके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता**—'तस्य कार्यं न विद्यते' **(गीता ३। १७), तथापि भगवान् उसे आज्ञा देते हैं कि वह लोकसंग्रहके लिये स्वयं भी सावधानीपूर्वक कर्तव्य-कर्म करे और कर्मोंमें आसक्त दूसरे मनुष्योंसे भी वैसे ही कर्तव्य-कर्म करवाये।**

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २७॥

सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं; परन्तु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी मनुष्य मैं कर्ता हूँ—ऐसा मान लेता है।

व्याख्या—जड़-विभाग अलग है और चेतन-विभाग अलग है। क्रियामात्र जड़ प्रकृतिमें ही होती है। चेतनमें कभी कोई क्रिया होती ही नहीं—'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गीता १३। ३१)। क्रियाका आरम्भ और समाप्ति तथा पदार्थका आदि और अन्त होता है; परन्तु चेतनका न आरम्भ तथा समाप्ति होती है, न आदि तथा अन्त होता है।

भगवान्‌ने गीतामें कर्मोंके होनेमें पाँच कारण बताये हैं—

(१) प्रकृति—'प्रकृतेः क्रियमाणानि०' (३। २७), 'प्रकृत्यैव च कर्माणि०' (१३। २९)।

(२) गुण—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (३। २८), 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं०' (१४। १९)।

(३) इन्द्रियाँ—'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' (५। ९)।

(४) स्वभाव—(क्रियाका वेग)—'स्वभावस्तु प्रवर्तते' (५। १४), 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि०' (३। ३३)।

(५) पाँच हेतु—'अधिष्ठानं तथा कर्ता०' (१८। १४)।

उपर्युक्त पाँचोंका मूल कारण एक 'अपरा प्रकृति' (जड़-विभाग) ही है। आजतक अनेक योनियोंमें जीवने जो भी कर्म किये हैं, उनमेंसे कोई भी कर्म तथा कोई भी शरीर स्वरूपतक नहीं पहुँचा। सूर्यतक अंधकार कैसे पहुँच सकता है? कारण कि कर्म और शरीरादि पदार्थोंका विभाग ही अलग है और स्वरूपका विभाग ही अलग है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ २८॥

परन्तु हे महाबाहो! गुण-विभाग और कर्म-विभागको तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता।

व्याख्या— **यह सिद्धान्त है कि संसार (पदार्थ और क्रिया)-से अलग होनेपर ही संसारका ज्ञान होता है और परमात्मासे एक होनेपर ही परमात्माका ज्ञान होता है। कारण यह है कि वास्तवमें हम संसारसे अलग और परमात्मासे एक हैं। तत्त्वज्ञ महापुरुष गुण-विभाग (पदार्थ) और कर्म-विभाग (क्रिया)-से सर्वथा अलग होनेपर यह जान लेता है कि सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण क्रियाएँ संसारमें ही हो रही हैं। स्वरूपमें कभी कोई क्रिया नहीं होती।**

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९॥

प्रकृतिजन्य गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए अज्ञानी मनुष्य गुणों और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं। उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी मनुष्य विचलित न करे।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३०॥

तू विवेकवती बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको मेरे अर्पण करके कामना-रहित, ममता-रहित और सन्ताप-रहित होकर युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको कर।

व्याख्या—यदि साधक भगवन्निष्ठ है तो उसे सम्पूर्ण कर्म भगवान्‌के अर्पित करके करने चाहिये। अर्पण करनेका तात्पर्य है—अपने लिये कोई कर्म न करके केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही सब कर्म करना।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

जो मनुष्य दोष-दृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस (पूर्वश्लोकमें वर्णित) मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं।

व्याख्या—भगवान्‌का मत है—मिलने तथा बिछुड़नेवाली कोई भी वस्तु (पदार्थ और क्रिया) अपनी तथा अपने लिये नहीं है। भगवान्‌का मत ही वास्तविक सिद्धान्त है, जिसका अनुसरण करके मात्र मनुष्य मुक्त हो सकते हैं।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

परन्तु जो मनुष्य मेरे इस मतमें दोष-दृष्टि करते हुए इसका अनुष्ठान नहीं करते, उन सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और अविवेकी मनुष्योंको नष्ट हुए ही समझो अर्थात् उनका पतन ही होता है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

सम्पूर्ण प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं। ज्ञानी महापुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। (फिर इसमें किसीका) हठ क्या करेगा?

व्याख्या—चेतन-तत्त्व सम रहता है और प्रकृति विषम रहती है। इसलिये तत्त्वज्ञ महापुरुषोंके स्वरूपमें तो कोई भिन्नता नहीं होती, पर उनकी प्रकृति (स्वभाव)-में भिन्नता होती है। उनका स्वभाव राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण महान् शुद्ध होता है। स्वभाव शुद्ध होनेपर भी तत्त्वज्ञ महापुरुषोंके स्वभावमें (जिस साधन-मार्गसे सिद्धि प्राप्त की है, उस मार्गके सूक्ष्म संस्कार रहनेके कारण) भिन्नता रहती है और उस स्वभावके अनुसार ही उनके द्वारा भिन्न-भिन्न व्यवहार होता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें (प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें) मनुष्यके राग और द्वेष व्यवस्थासे (अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर) स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके (पारमार्थिक मार्गमें) विघ्न डालनेवाले शत्रु हैं।

व्याख्या— **भूलसे अपने सुख-दुःखका कारण दूसरे-को माननेसे ही राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं।** यदि अन्तःकरणमें राग-द्वेष उत्पन्न हो जायँ तो उनके वशीभूत होकर कोई क्रिया नहीं करनी चाहिये; क्योंकि क्रिया करनेसे राग-द्वेष दृढ़ हो जाते हैं।

साधक राग-द्वेषके वशीभूत भी न हो और उनको अपनेमें भी न माने। राग-द्वेष आगन्तुक दोष हैं। हमें इनके आने-जानेका ज्ञान होता है; अतः हम इनसे अलग हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अच्छी तरह आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणोंकी कमीवाला अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।

व्याख्या— **वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार निष्कामभावसे अपने-अपने कर्तव्यका पालन करना मनुष्यका 'स्वधर्म' है और जो उसके लिये निषिद्ध है, वह 'परधर्म' है। जिनमें दूसरेके अहितका भाव होता है, वे चोरी, हिंसा आदि किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं, प्रत्युत कुधर्म अथवा अधर्म हैं।**

प्रत्येक धर्ममें कुधर्म, अधर्म और परधर्म—ये तीनों रहते हैं; जैसे—दूसरेके अनिष्टका भाव, कूटनीति आदि 'धर्ममें कुधर्म' है। यज्ञमें पशुबलि देना आदि 'धर्ममें अधर्म' है। जो अपने लिये निषिद्ध है, ऐसा दूसरे वर्ण, आश्रम आदिका धर्म 'धर्ममें परधर्म' है। कुधर्म, अधर्म और परधर्मसे कल्याण नहीं होता। कल्याण उस धर्मसे होता है, जिसमें अपने स्वार्थ तथा अभिमानका त्याग और दूसरेका वर्तमानमें और भविष्यमें हित होता हो।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

अर्जुन बोले—हे वार्ष्णेय! फिर यह मनुष्य न चाहता हुआ भी जबर्दस्ती लगाये हुएकी तरह किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥

श्रीभगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न यह काम अर्थात् कामना (ही पापका कारण है)। यह काम ही क्रोध (-में परिणत होता) है। यह बहुत खाने-वाला और महापापी है। इस विषयमें तू इसको ही वैरी जान।

व्याख्या—जैसा मैं चाहूँ, वैसा हो जाय—यह 'काम' अर्थात् कामना है। किसी भी क्रिया, वस्तु और व्यक्तिका अच्छा लगना अथवा उससे कुछ भी सुख चाहना 'काम' है। इस कामरूप एक दोषमें अनन्त दोष, अनन्त पाप भरे हुए हैं! अतः जबतक मनुष्यके भीतर काम है, तबतक वह सर्वथा निर्दोष, निष्पाप नहीं हो सकता। कामनाके सिवाय पापोंका अन्य कोई कारण नहीं है। तात्पर्य है कि मनुष्यसे न तो ईश्वर पाप कराता है, न भाग्य पाप कराता है, न समय पाप कराता है, न परिस्थिति पाप कराती है, न कलियुग पाप कराता है, प्रत्युत मनुष्य स्वयं ही कामनाके वशीभूत होकर पाप करता है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥

जैसे धुएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जैसे जेरसे गर्भ ढका रहता है, ऐसे ही उस कामनाके द्वारा यह (ज्ञान अर्थात् विवेक) ढका हुआ है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

हे कुन्तीनन्दन! इस अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाले और विवेकियोंके कामनारूप नित्य वैरीके द्वारा मनुष्यका विवेक ढका हुआ है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस कामनाके वास-स्थान कहे गये हैं। यह कामना इन (इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि)-के द्वारा ज्ञानको ढककर देहाभिमानी मनुष्यको मोहित करती है।

व्याख्या— काम पाँच स्थानोंमें दीखता है— (१) विषयोंमें (गीता ३। ३४), (२) इन्द्रियोंमें, (३) मनमें, (४) बुद्धिमें और (५) अहम् (जड़-चेतनके तादात्म्य)-में (गीता २। ५९)। इन पाँच स्थानोंमें दीखनेके कारण ये पाँचों कामके वासस्थान कहे गये हैं। मूलमें काम 'अहम्' में ही रहता है (गीता ३। ४२-४३)।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥

इसलिये हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! तू सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल।

व्याख्या— संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—यह ज्ञान है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह विज्ञान है। काम साधकको न तो 'ज्ञान' प्राप्त करने देता है, न 'विज्ञान'।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ४३॥

इन्द्रियोंको (स्थूलशरीरसे) पर (श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक तथा सूक्ष्म) कहते हैं। इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी पर है, वह (काम) है। इस तरह बुद्धिसे पर (काम)-को जानकर अपने द्वारा अपने-आपको वशमें करके हे महाबाहो! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल।

व्याख्या— **पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहम्—ये आठ प्रकारके भेदोंवाली अपरा प्रकृति है (गीता ७।४)। बुद्धिसे भी पर जो अहम् है, उस अहम्के जड़-अंशमें 'काम' रहता है। तात्पर्य है कि कामरूप विकार अपरा प्रकृति (जड़)-में रहता है, परा प्रकृति (चेतन)-में नहीं। परन्तु अहम्के साथ तादात्म्य करनेके कारण उस कामरूप विकारको चेतन (जीवात्मा) अपनेमें मान लेता है। जबतक अहम्रूप जड़-चेतनका तादात्म्य रहता है, तबतक जड़ और चेतनके विभागका ज्ञान नहीं होता। जबतक तादात्म्य है, तभीतक 'काम' है। तादात्म्य टूटनेपर उस कामका स्थान 'प्रेम' ले लेता है। काममें संसारकी ओर आकर्षण होता है और प्रेममें भगवान्की ओर।**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥
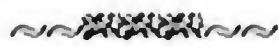
ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

चौथा अध्याय

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योग (कर्मयोग)-को सूर्यसे कहा था। फिर सूर्यने (अपने पुत्र) वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने (अपने पुत्र) राजा इक्ष्वाकुसे कहा।

व्याख्या— पूर्वपक्ष— अव्यय (नित्य) तो साध्य होता है, साधन कैसे अव्यय होगा?

उत्तरपक्ष— साधक ही साधन होकर साध्यमें लीन होता है। अतः साधक, साधन और साध्य—तीनों ही एक होनेसे अव्यय हैं; परन्तु मोहके कारण तीनों अलग-अलग दीखते हैं।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥ २॥

हे परन्तप! इस तरह परम्परासे प्राप्त इस कर्मयोगको राजर्षियोंने जाना। परन्तु बहुत समय बीत जानेके कारण वह योग इस मनुष्यलोकमें लुप्तप्राय हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझसे कहा है; क्योंकि यह बड़ा उत्तम रहस्य है।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

अर्जुन बोले—आपका जन्म तो अभीका है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है; अतः आपने ही सृष्टिके आरम्भमें (सूर्यसे) यह योग कहा था—यह बात मैं कैसे समझूँ?

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ५॥

श्रीभगवान् बोले—हे परन्तप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ, पर तू नहीं जानता।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

मैं अजन्मा और अविनाशी-स्वरूप होते हुए भी तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

हे भरतवंशी अर्जुन! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने-आपको (साकाररूपसे) प्रकट करता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥

साधुओं (भक्तों)-की रक्षा करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी भलीभाँति स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।

व्याख्या— **परमात्मा अक्रिय हैं; अतः अवतार लेकर क्रिया (लीला) करनेके लिये वे अपनी प्रकृतिकी सहायता लेते हैं। अवतारमें सम्पूर्ण क्रियाएँ परमात्माके द्वारा की जाती हुई दीखनेपर भी वास्तवमें वे क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही की जाती हैं। इसलिये सीताजीने कहा है कि सम्पूर्ण क्रियाएँ मैंने ही की हैं, भगवान् रामने नहीं—**

एवमादीनि कर्माणि मयैवाचरितान्यपि।
आरोपयन्ति रामेऽस्मिन्निर्विकारेऽखिलात्मनि॥

(अध्यात्म० बाल० १।४२)

'(भगवान् श्रीरामके अवतार लेनेसे लेकर राज्य-पदपर अभिषिक्त होनेतकके) सम्पूर्ण कार्य यद्यपि मेरे ही किये हुए हैं, तो भी लोग उन्हें इन निर्विकार सर्वात्मा भगवान्‌में आरोपित करते हैं।'

आगे इसी अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भी भगवान् कहेंगे—'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९ ॥

हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं। इस प्रकार (मेरे जन्म और कर्मको) जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है अर्थात् दृढ़तापूर्वक मान लेता है, वह शरीरका त्याग करके पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत मुझे प्राप्त होता है।

व्याख्या—अवतारकालमें भगवान् मनुष्योंके कल्याणके लिये ही सब क्रियाएँ करते हैं। जन्म और कर्मसे सर्वथा रहित होनेपर भी भगवान् अपनी प्रकृतिकी सहायतासे जन्म और कर्मकी लीला करते हुए दीखते हैं—यह भगवान्‌के जन्म और कर्मकी अलौकिकता है। साधक भी यदि अपरा प्रकृतिके अहम्‌के साथ अपने तादात्म्यका त्याग कर दे तो कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित होनेपर उसके कर्म भी दिव्य हो जायँगे। कर्मोंका अकर्म होना ही कर्मोंका दिव्य होना है। यह दिव्यता कर्मयोगसे आती है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १०॥

राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित, मुझमें तल्लीन, मेरे ही आश्रित तथा ज्ञानरूप तपसे पवित्र हुए बहुत-से भक्त मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥

हे पृथानन्दन! जो भक्त जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं।

व्याख्या— यद्यपि सब कुछ परमात्मा ही हैं— 'वासुदेवः सर्वम्' (गीता ७। १९), तथापि मनुष्य जिस भावसे देखता है, भगवान् भी उसके सामने उसी रूपसे प्रकट हो जाते हैं—

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥
(मानस, बाल० २४१। २)

जीव जगत्‌को धारण करता है—'ययेदं धार्यते जगत्' (गीता ७। ५) तो भगवान् जगद्रूपसे प्रकट हो जाते हैं। नास्तिक भगवान्‌को नहीं मानता तो भगवान् उसके सामने 'नहीं'-रूपसे प्रकट हो जाते हैं। चोर भगवान्‌की मूर्तिमें भगवान्‌को न देखकर पत्थर, स्वर्ण आदिको देखता है तो भगवान् उसके लिये पत्थर, स्वर्ण आदिके रूपमें प्रकट हो जाते हैं।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२॥

कर्मोंकी सिद्धि (फल) चाहनेवाले मनुष्य देवताओंकी उपासना किया करते हैं; क्योंकि इस मनुष्यलोकमें कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि जल्दी मिल जाती है।

व्याख्या— मनुष्यलोकमें सकाम कर्मोंसे होनेवाली सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है; परन्तु परिणाममें वह बन्धनकारक होती है। जैसे, एलोपैथिक दवा जल्दी असर करती है, पर परिणाममें वह शरीरके लिये हानिकारक होती है। परन्तु आयुर्वेदिक दवा देरसे असर करती है, पर परिणाममें वह लाभदायक होती है। जनकादि महापुरुषोंने निष्काम कर्म (कर्मयोग) से संसिद्धि (सम्यक् सिद्धि अर्थात् मुक्ति) प्राप्त की थी—'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (गीता ३। २०)। सकाम कर्मोंसे होनेवाली सिद्धि नाशवान् होती है, और निष्काम कर्मोंसे होनेवाली सिद्धि अविनाशी होती है।

निष्काम कर्म अर्थात् कर्मयोगसे कर्मजन्य सिद्धिकी इच्छा मिटती है। जन्य वस्तुसे मुक्ति नहीं होती।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ १३॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ १४॥

मेरे द्वारा गुणों और कर्मोंके विभागपूर्वक चारों वर्णोंकी रचना की गयी है। उस (सृष्टि-रचना आदि)-का कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू अकर्ता जान! कारण कि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते। इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।

व्याख्या—**चारों वर्णोंकी रचना मेरे द्वारा की गयी है—इस भगवद्वचनसे सिद्ध होता है कि वर्ण जन्मसे होता है, कर्मसे नहीं। कर्मसे तो वर्णकी रक्षा होती है।**

जैसे सृष्टि-रचनारूप कर्म करनेपर भी भगवान् अकर्ता ही रहते हैं, ऐसे ही भगवान्‌का अंश जीव भी कर्म करते हुए अकर्ता ही रहता है—'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' **(गीता १३। ३१)। परन्तु जीव अहम्‌से सम्बन्ध जोड़कर अज्ञानवश अपनेको कर्ता मान लेता है—** 'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' **(गीता ३। २७)।**

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ १५ ॥

पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी इस प्रकार जानकर कर्म किये हैं, इसलिये तू भी पूर्वजोंके द्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको ही (उन्हींकी तरह) कर।

व्याख्या—भगवान्‌का मत है कि मुमुक्षा जाग्रत् होनेपर भी कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत कर्तृत्वाभिमान तथा फलासक्तिका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करते रहना चाहिये। कर्म करनेसे बन्धन होता है, पर कर्मयोगसे मोक्ष (विश्राम) प्राप्त होता है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६ ॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है—इस प्रकार इस विषयमें विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। अतः वह कर्म-तत्त्व मैं तुझे भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू अशुभ (संसार-बन्धन)-से मुक्त हो जायगा।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये और अकर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये तथा विकर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्मोंकी गति गहन है अर्थात् समझनेमें बड़ी कठिन है।

व्याख्या—**कामनाके कारण क्रिया ही फलजनक 'कर्म' बन जाती है। कामना बढ़नेपर 'विकर्म' (पाप) होते हैं। कामनाका सर्वथा नाश होनेपर सभी कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं अर्थात् फल देनेवाले नहीं होते।**

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ १८॥

जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, वह योगी है और सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला (कृतकृत्य) है।

व्याख्या—कर्म करते हुए निर्लिप्त रहना अर्थात् कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छा न रखना 'कर्ममें अकर्म' देखना है। निर्लिप्त रहते हुए अर्थात् कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छाका त्याग करके कर्म करना 'अकर्ममें कर्म' देखना है। इन दोनोंसे ही कर्मयोगकी सिद्धि होती है। कर्मयोगी कर्म करते हुए अथवा न करते हुए, प्रत्येक अवस्थामें निर्लिप्त रहता है—'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन' (गीता ३। १८)।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९॥

जिसके सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भ संकल्प और कामनासे रहित हैं तथा जिसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्निसे जल गये हैं, उसको ज्ञानिजन भी पण्डित (बुद्धिमान्) कहते हैं।

व्याख्या— **जो कर्मयोगी कर्म करते हुए निर्लिप्त (संकल्प और कामनासे रहित) रहता है और निर्लिप्त रहते हुए सब कर्म करता है, वह सम्पूर्ण ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ है।**

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ २०॥

जो कर्म और फलकी आसक्तिका त्याग करके (संसारके) आश्रयसे रहित और सदा तृप्त है, वह कर्मोंमें अच्छी तरह लगा हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता।

व्याख्या— **जिसके भीतर कर्तृत्वाभिमान और फलासक्ति है, वह कर्म न करनेपर भी बँधा हुआ है। परन्तु जिसके भीतर कर्तृत्वाभिमान और फलासक्ति नहीं है, वह कर्म करते हुए भी मुक्त है।**

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥

जिसका शरीर और अन्तःकरण अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ है, जिसने सब प्रकारके संग्रहका परित्याग कर दिया है, ऐसा इच्छारहित (कर्मयोगी) केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या—केवल शरीर-निर्वाहके लिये जो कर्म किये जायँ, उनसे यदि कोई पाप बन भी जाय तो वह लगता नहीं। परन्तु जो मनुष्य भोग और संग्रहके लिये कर्म करता है, वह पापसे बच नहीं सकता।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥

(जो कर्मयोगी फलकी इच्छाके बिना) अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहता है और जो ईर्ष्यासे रहित, द्वन्द्वोंसे रहित तथा सिद्धि और असिद्धिमें सम है, वह कर्म करते हुए भी उससे नहीं बँधता।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

जिसकी आसक्ति सर्वथा मिट गयी है, जो मुक्त हो गया है, जिसकी बुद्धि स्वरूपके ज्ञानमें स्थित है, ऐसे केवल यज्ञके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं।

व्याख्या— **निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करना 'यज्ञार्थ कर्म' है। यज्ञार्थ कर्म करनेवाले कर्मयोगीके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं और उसे अपने स्वतःस्वाभाविक असंग स्वरूपका अनुभव हो जाता है।**

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् जिससे अर्पण किया जाय, वे स्रुक् आदि पात्र भी ब्रह्म है, हव्य पदार्थ (तिल, जौ, घी आदि) भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है, (ऐसे यज्ञको करनेवाले) जिस मनुष्यकी ब्रह्ममें ही कर्म-समाधि हो गयी है, उसके द्वारा प्राप्त करनेयोग्य (फल भी) ब्रह्म ही है।

व्याख्या— **अब भगवान् अपनी प्राप्तिके लिये भिन्न-भिन्न साधनोंका 'यज्ञ' रूपसे वर्णन आरम्भ करते हैं। संसारकी सत्ता विद्यमान है ही नहीं (गीता २। १६)। एक ब्रह्मके सिवाय कुछ नहीं है। संसारमें जो कर्ता, करण, कर्म और पदार्थ दिखायी देते हैं, वे सब ब्रह्मरूप ही हैं—ऐसा अनुभव करना 'ब्रह्मयज्ञ' है।**

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

अन्य योगीलोग दैव (भगवदर्पणरूप) यज्ञका ही अनुष्ठान करते हैं और दूसरे योगीलोग ब्रह्मरूप अग्निमें (विचाररूप) यज्ञके द्वारा ही (जीवात्मारूप) यज्ञका हवन करते हैं।

व्याख्या—सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको अपना और अपने लिये न मानकर केवल भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये ही मानना 'भगवदर्पणरूप यज्ञ' है। परमात्माकी सत्तामें अपनी सत्ता मिला देना अर्थात् 'मैं'-पनको मिटा देना 'अभिन्नतारूप यज्ञ' है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥

अन्य योगीलोग श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियोंका संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं।

व्याख्या—एकान्तकालमें अपनी इन्द्रियोंको भोगोंमें न लगने देना 'संयमरूप यज्ञ' है। व्यवहारकालमें इन्द्रियोंके अपने विषयोंमें प्रवृत्त होनेपर उनमें राग-द्वेष न करना 'विषयहवनरूप यज्ञ' है।

हवन तभी होगा, जब विषय नहीं रहेंगे। कारण कि हवन तभी होता है, जब हव्य पदार्थ नहीं रहता। जबतक हव्य पदार्थकी सत्ता रहती है, तबतक हवन नहीं होता।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥

अन्य योगीलोग सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी क्रियाओंको और प्राणोंकी क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयम-योग (समाधियोग)-रूप अग्निमें हवन किया करते हैं।

व्याख्या—मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों और प्राणोंकी क्रियाओंको रोककर समाधिमें स्थित हो जाना 'समाधिरूप यज्ञ' है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

दूसरे कितने ही तीक्ष्ण व्रत करनेवाले प्रयत्नशील साधक द्रव्यमय यज्ञ करनेवाले हैं और कितने ही तपोयज्ञ करनेवाले हैं और दूसरे कितने ही योगयज्ञ करनेवाले हैं तथा कितने ही स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं।

व्याख्या—मिली हुई वस्तुओंको निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवामें लगाना 'द्रव्ययज्ञ' है। स्वधर्मपालनमें आनेवाली कठिनाइयोंको प्रसन्नतासे सह लेना 'तपोयज्ञ' है। कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें तथा अनुकूल या प्रतिकूल फलकी प्राप्तिमें सम रहना 'योगयज्ञ' है। सत्-शास्त्रोंका अध्ययन-मनन, नामजप आदि करना 'स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ' है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

दूसरे कितने ही प्राणायामके परायण हुए योगीलोग अपानमें प्राणका (पूरक करके) प्राण और अपानकी गति रोककर (कुम्भक करके), फिर प्राणमें अपानका हवन (रेचक) करते हैं; तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणोंका प्राणोंमें हवन किया करते हैं। ये सभी (साधक) यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश करनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं।

व्याख्या— **पूरक, कुम्भक और रेचकपूर्वक प्राणायाम करना 'प्राणायामरूप यज्ञ' है। प्राण-अपानको अपने-अपने स्थानपर रोक देना 'स्तम्भवृत्ति (चतुर्थ) प्राणायामरूप यज्ञ' है।**

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥

हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं। यज्ञ न करनेवाले मनुष्यके लिये यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक होगा?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

इस प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सब यज्ञोंको तू कर्मजन्य जान। इस प्रकार जानकर (यज्ञ करनेसे) तू कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा।

व्याख्या— जिसने कर्म करते हुए भी उससे निर्लिप्त (कर्तृत्व-फलेच्छारहित) रहनेकी विद्याको जान लिया है, वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥

हे परन्तप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। सम्पूर्ण कर्म और पदार्थ ज्ञान (तत्त्वज्ञान)-में समाप्त (लीन) हो जाते हैं।

व्याख्या— पहले कहे गये बारह यज्ञ 'द्रव्यमय यज्ञ' हैं। उन सबकी अपेक्षा आगे कहा जानेवाला 'ज्ञानयज्ञ' श्रेष्ठ है; क्योंकि ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। द्रव्यमय यज्ञमें क्रिया तथा पदार्थकी मुख्यता है और ज्ञानयज्ञमें विवेक-विचारकी मुख्यता है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

उस तत्त्वज्ञानको (तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषोंके पास जाकर) समझ। उनको साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे तत्त्वदर्शी (अनुभवी) ज्ञानी (शास्त्रज्ञ) महापुरुष तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे।

व्याख्या—तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रणालीका वर्णन करते हुए भगवान् मानो यह कहना चाहते हैं कि केवल गुरु बनानेसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती और केवल शिष्य बनानेसे गुरुका कर्तव्य पूरा नहीं होता। यदि कोई अनुभवी महापुरुषके पास जाकर उन्हें प्रणाम करे अर्थात् अपने-आपको उनके समर्पित कर दे, उनकी आज्ञाके अनुसार काम करे और उनके सामने अपनी जिज्ञासा प्रकट करे तो वे गुरु-शिष्यका सम्बन्ध जोड़े बिना तत्त्वज्ञानका उपदेश दे देंगे।

जिससे तत्त्वज्ञानका उपदेश लिया जाय, उस महापुरुषका अनुभवी और शास्त्रज्ञ होना आवश्यक है। यदि वह अनुभवी तो हो पर शास्त्रज्ञ नहीं हो तो जिज्ञासुकी अनेक शंकाओंका समुचित समाधान नहीं कर पायेगा। यदि वह शास्त्रज्ञ तो हो, पर अनुभवी नहीं हो तो उसके वचन वैसे ठोस एवं प्रभावशाली नहीं होंगे, जिनसे जिज्ञासुको बोध हो जाय।

अनुभवी और शास्त्रज्ञ—इन दोनोंमें भी महापुरुषका अनुभवी होना मुख्य है। अनुभवी महापुरुषके हृदयमें शास्त्र स्वतः प्रकट होते हैं। अनुभवी सन्तोंकी वाणीसे ही शास्त्र बनते हैं। उनकी वाणी स्वतः शास्त्रके अनुकूल होती है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

जिस (तत्त्वज्ञान)-का अनुभव करनेके बाद तू फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा और हे अर्जुन! जिस (तत्त्वज्ञान)-से तू सम्पूर्ण प्राणियोंको निःशेष भावसे पहले अपनेमें और उसके बाद मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।

व्याख्या—**तत्त्वज्ञान होनेपर फिर मोह नहीं होता; क्योंकि वास्तवमें मोहकी सत्ता है ही नहीं**—'नासतो विद्यते भावः' (गीता २।१६)। **इसलिये तत्त्वज्ञान एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है। जैसे, पृथ्वीपर दिनके बाद रात होती है, रातके बाद दिन होता है; परन्तु सूर्यमें रात आती ही नहीं। वहाँ नित्य-निरन्तर दिनसे भी विलक्षण प्रकाश रहता है। ऐसे ही तत्त्वज्ञानरूप सूर्यमें मोहरूप अन्धकारका प्रवेश कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। मोहकी सत्ता जीवकी दृष्टिमें है।**

परमात्माके अन्तर्गत जीव है—'ममैवांशो जीवलोके' (गीता १५।७) **और जीवके अन्तर्गत जगत् है**—'ययेदं धार्यते जगत्' (गीता ७।५)। **इसलिये साधक पहले जगत्को अपनेमें देखता है**—'द्रक्ष्यस्यात्मनि', **फिर अपनेको परमात्मामें देखता है**—'अथो मयि'। **जगत्को अपनेमें देखनेसे अहम्की सूक्ष्म सत्ता रहती है। यह सूक्ष्म अहम् जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर दार्शनिक मतभेद करानेवाला होता है। अपनेको परमात्मामें देखनेसे अहम्का सर्वथा नाश हो जाता है और एक चिन्मय सत्तामात्रके सिवाय कुछ नहीं रहता।**

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ ३६॥

अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।

व्याख्या—संसारमात्रमें जितने पापी हैं, उन सब पापियोंमें भी जो सबसे अधिक पापी है, ऐसे महापापीको भी ज्ञान प्राप्त हो सकता है! इसलिये किसी भी मनुष्यको अपने कल्याणके विषयमें निराश नहीं होना चाहिये। मनुष्यमात्र ज्ञानप्राप्तिका अधिकारी है। ज्ञानकी प्राप्तिमें पाप बाधक नहीं हैं, प्रत्युत नाशवान्‌की कामना बाधक है (गीता ३। ३७—४१)।

दो विभाग हैं—जड़ और चेतन। ये दोनों विभाग अन्धकार और प्रकाशकी तरह परस्पर सर्वथा असम्बद्ध हैं। सम्पूर्ण क्रियाएँ जड़-विभागमें ही होती हैं। चेतन-विभागमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती। सम्पूर्ण पाप जड़-विभागमें ही हैं, चेतन-विभागमें नहीं। जड़ और चेतनके विभागको अलग-अलग जानना ही ज्ञान है। इस ज्ञानरूपी अग्निसे सम्पूर्ण पाप सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ ३७॥

हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको सर्वथा भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको सर्वथा भस्म कर देती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ३८॥

इस मनुष्यलोकमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह दूसरा कोई साधन नहीं है। जिसका योग भलीभाँति सिद्ध हो गया है, (वह कर्मयोगी) उस तत्त्वज्ञानको अवश्य ही स्वयं अपने-आपमें पा लेता है।

व्याख्या—**जिस तत्त्वज्ञानको पानेके लिये कर्मोंका त्याग करके अनुभवी और शास्त्रज्ञ महापुरुषकी शरणमें जाना पड़ता है (गीता ४। ३४), वही तत्त्वज्ञान कर्मयोगीको सब कर्म करते हुए अपने-आपमें ही प्राप्त हो जाता है। तत्त्वज्ञानके लिये उसे कहीं जाना नहीं पड़ता, कोई दूसरा साधन नहीं करना पड़ता।**

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥

जो जितेन्द्रिय तथा साधन-परायण है, ऐसा श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है और ज्ञानको प्राप्त होकर वह तत्काल परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— **जिसकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, वही साधन-परायण होता है। जो साधन-परायण होता है, वही पूर्ण श्रद्धावान् होता है। ऐसे पूर्ण श्रद्धावान् साधकको ज्ञानकी प्राप्ति तत्काल हो जाती है। अतः ज्ञानकी प्राप्तिमें वक्तापर तथा सिद्धान्तपर श्रद्धा-विश्वास मुख्य कारण है।**

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशयात्मा मनुष्यका पतन हो जाता है। ऐसे संशयात्मा मनुष्यके लिये न तो यह लोक (हितकारक) है, न परलोक (हितकारक) है और न सुख ही है।

व्याख्या— **विवेक और श्रद्धाकी आवश्यकता सभी साधनोंमें है। संशयात्मा मनुष्यमें विवेक और श्रद्धा नहीं होते अर्थात् न तो वह खुद जानता है और न दूसरेकी बात मानता है। ऐसे मनुष्यका पारमार्थिक मार्गसे पतन हो जाता है। उसका यह लोक भी बिगड़ जाता है और परलोक भी।**

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥ ४१॥

हे धनंजय! योग (समता)-के द्वारा जिसका सम्पूर्ण कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है और विवेकज्ञानके द्वारा जिसके सम्पूर्ण संशयोंका नाश हो गया है, ऐसे स्वरूप-परायण मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! हृदयमें स्थित इस अज्ञानसे उत्पन्न अपने संशयका ज्ञानरूप तलवारसे छेदन करके योग (समता)-में स्थित हो जा और (युद्धके लिये) खड़ा हो जा।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! आप कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। अतः इन दोनों साधनोंमें जो एक निश्चितरूपसे कल्याणकारक हो, उसको मेरे लिये कहिये।

व्याख्या—चौथे अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनको युद्धके लिये खड़ा होनेकी आज्ञा दी थी। परन्तु यहाँ अर्जुनके प्रश्नसे पता लगता है कि उनके भीतर युद्ध करने अथवा न करनेकी और विजय प्राप्त करने अथवा न करनेकी अपेक्षा भी 'मेरा कल्याण कैसे हो'—इसकी विशेष चिन्ता है। उनके अन्तःकरणमें युद्धकी तथा विजय प्राप्त करनेकी अपेक्षा भी कल्याणका अधिक महत्त्व है। अतः प्रस्तुत श्लोकसे पहले भी अर्जुन दो बार अपने कल्याणकी बात पूछ चुके हैं (गीता २।७, ३।२)।

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—संन्यास (सांख्ययोग) और कर्मयोग दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं। परन्तु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्यास (सांख्ययोग)-से कर्मयोग श्रेष्ठ है।

व्याख्या— भगवान् कहते हैं कि यद्यपि सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनोंसे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है, तथापि कर्मयोगके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करना ही श्रेष्ठ है। कर्मयोग सांख्ययोगकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ तथा सुगम है।

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

हे महाबाहो! जो मनुष्य न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह (कर्मयोगी) सदा संन्यासी समझनेयोग्य है; क्योंकि द्वन्द्वोंसे रहित मनुष्य सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

व्याख्या— जिसने बाहरसे संन्यास-आश्रम ग्रहण कर लिया है, वह वास्तवमें संन्यासी नहीं है। संन्यासी वास्तवमें वह है, जिसने भीतरसे राग-द्वेषका त्याग कर दिया है। राग-द्वेषके रहते हुए मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। परन्तु जिसने राग-द्वेषका त्याग कर दिया है, वह सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

जिसके भीतर राग-द्वेष नहीं है, वह कर्मयोगी शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंको करते हुए भी सदा संन्यासी ही है। उसे अपने कल्याणके लिये बाहरसे संन्यास-आश्रम ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है।

ज्ञानयोगमें अपने स्वरूपको जाननेकी मुख्यता रहनेसे ज्ञानयोगीमें उदासीनता रहती है। परन्तु कर्मयोगीमें दूसरेके हितकी मुख्यता रहती है। इसलिये अहंवृत्तिका त्याग कर्मयोगमें सुगम है, ज्ञानयोगमें नहीं।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:।
एकमप्यास्थित: सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥

बेसमझ लोग सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग (फलवाले) कहते हैं, न कि पण्डितजन; क्योंकि इन दोनोंमेंसे एक साधनमें भी अच्छी तरहसे स्थित मनुष्य दोनोंके फल (परमात्माको) प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—भगवान्‌के मतमें ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों ही लौकिक साधन हैं (गीता ३। ३) और दोनोंका परिणाम भी एक ही है। दोनों ही साधनोंकी पूर्णता होनेपर साधक संसार-बन्धनसे मुक्त होकर आत्मसाक्षात्कार कर लेता है। अत: दोनों ही मोक्षप्राप्तिके स्वतन्त्र साधन हैं।

यत्साङ्ख्यै: प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति॥ ५॥

सांख्ययोगियोंके द्वारा जो तत्त्व प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंके द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। अत: जो मनुष्य सांख्ययोग और कर्मयोगको (फलरूपमें) एक देखता है, वही ठीक देखता है।

व्याख्या—फल एक होनेसे ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों साधन समकक्ष हैं।

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

परन्तु हे महाबाहो! कर्मयोगके बिना सांख्ययोग सिद्ध होना कठिन है। मननशील कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— **कर्मयोगमें साधक सभी कर्म निष्कामभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये ही करता है, इसलिये उसका राग सुगमतापूर्वक मिट जाता है। कर्मयोगके द्वारा अपना राग मिटाकर सांख्ययोगका साधन करनेसे शीघ्र सिद्धि होती है। भगवान्‌ने भी इसी कारण कर्मयोगीके 'सर्वभूतहिते रताः' भावको ज्ञानयोगके अन्तर्गत लिया है अर्थात् इस भावको ज्ञानयोगीके लिये भी आवश्यक बताया है (गीता ५। २५, १२। ४)। यदि ज्ञानयोगीमें यह भाव नहीं होगा तो उसमें ज्ञानका अभिमान अधिक होगा।**

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

जिसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं, जिसका अन्तःकरण निर्मल है, जिसका शरीर अपने वशमें है और सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मा ही जिसकी आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करते हुए भी लिप्त नहीं होता।

व्याख्या— शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर कर्मयोगीको प्राणिमात्रके साथ अपनी एकताका अनुभव हो जाता है। एकदेशीयता मिटनेपर जब कर्मयोगीमें कर्तापन नहीं रहता, तब उसके द्वारा होनेवाले सब कर्म अकर्म हो जाते हैं।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥ ८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९ ॥

तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, ग्रहण करता हुआ, बोलता हुआ, (मल-मूत्रका) त्याग करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ तथा आँख खोलता हुआ और मूँदता हुआ भी 'सम्पूर्ण इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं'— ऐसा समझकर 'मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ'— ऐसा माने।

व्याख्या— **अपरा प्रकृतिके अहम्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़नेके कारण अविवेकी मनुष्य अपनेको कर्ता मान लेता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' **(गीता ३। २७)। परन्तु जब वह विवेकपूर्वक अहम्‌से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, तब उसे 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—इस प्रकार अपने वास्तविक स्वरूपका अनुभव हो जाता है।**

हमारा वास्तविक स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है। उस स्वरूपमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व न कभी था, न है, न होगा और न हो ही सकता है। अतः शरीरके द्वारा शास्त्रविहित क्रियाएँ होते हुए भी साधककी दृष्टि अपने स्वरूपकी ओर रहनी चाहिये, जो कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित है—'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' **(गीता १३। ३१)।**

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ १०॥

जो (भक्तियोगी) सम्पूर्ण कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिका त्याग करके कर्म करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी तरह पापसे लिप्त नहीं होता।

व्याख्या— **कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको संसारके अर्पण करता है, ज्ञानयोगी प्रकृतिके अर्पण करता है और भक्तियोगी भगवान्‌के अर्पण करता है। तीनोंका परिणाम एक ही होता है। तीनों योगोंमें 'अपने लिये कुछ न करना' आवश्यक है।**

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ ११॥

कर्मयोगी आसक्तिका त्याग करके केवल (ममतारहित) इन्द्रियाँ, शरीर, मन और बुद्धिके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही कर्म करते हैं।

व्याख्या— ममताका सर्वथा नाश होना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है। कर्मयोगी साधक शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना तथा अपने लिये न मानते हुए, प्रत्युत संसारका तथा संसारके लिये मानते हुए ही कर्म करते हैं। इस प्रकार कर्म करते-करते जब ममताका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। पवित्र होनेपर अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वरूपमें स्थिति हो जाती है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ १२॥

कर्मयोगी कर्मफलका त्याग करके नैष्ठिकी शान्तिको प्राप्त होता है। परन्तु सकाम मनुष्य कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बँध जाता है।

व्याख्या— कर्म बाँधनेवाले नहीं होते, प्रत्युत कर्मफलकी इच्छा बाँधनेवाली होती है। कर्म न तो बाँधते हैं, न मुक्त ही करते हैं। कर्मोंमें सकामभाव ही बाँधनेवाला और निष्कामभाव मुक्त करनेवाला होता है।

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ १३॥

जिसकी इन्द्रियाँ और मन वशमें हैं, ऐसा देहधारी पुरुष नौ द्वारोंवाले (शरीररूपी) पुरमें सम्पूर्ण कर्मोंका (विवेकपूर्वक) मनसे त्याग करके निःसन्देह न करता हुआ और न करवाता हुआ सुखपूर्वक (अपने स्वरूपमें) स्थित रहता है।

व्याख्या—प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध जोड़नेसे जीव प्रकृतिजन्य गुणोंके अधीन हो जाता है—'अवशः' (गीता ३।५) और प्रकृतिमें होनेवाली क्रियाओंका कर्ता बन जाता है। परन्तु जब जीव प्रकृतिके साथ माने हुए सम्बन्धको मिटा देता है, तब वह स्वाधीन हो जाता है—'वशी'। स्वाधीन होनेपर वह किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं बनता। प्रकृतिमें क्रियता और स्वरूपमें अक्रियता स्वतःसिद्ध है। चेतन तत्त्व (स्वरूप) न तो कर्म करता है और न कर्म करनेकी प्रेरणा ही करता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ १४॥

परमेश्वर मनुष्योंके न कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके साथ संयोगकी रचना करते हैं; किन्तु स्वभाव ही बरत रहा है।

व्याख्या— **स्वरूपकी तरह परमात्मा भी किसीको कर्म करनेकी प्रेरणा नहीं करते। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। कर्तापन, कर्म और कर्मफलके साथ संयोग जीवका काम है, परमात्माका नहीं। अतः इनका त्याग करनेका दायित्व भी जीवपर ही है। जीव ही अज्ञानवश प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़कर कर्मोंका कर्ता बनता है और कर्मफलके साथ सम्बन्ध जोड़कर सुखी-दुःखी होता है।**

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥

सर्वव्यापी परमात्मा न किसीके पापकर्मको और न शुभ-कर्मको ही ग्रहण करता है; किन्तु अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब जीव मोहित हो रहे हैं।

व्याख्या— **सर्वव्यापी चेतन-तत्त्व किसीके भी पाप-कर्म अथवा पुण्य-कर्मका कर्ता और भोक्ता नहीं बनता, प्रत्युत अज्ञानवश जीव ही कर्ता-भोक्ता बन जाता है।**

ज्ञानका कभी अभाव नहीं होता। अतः 'अज्ञान' शब्द ज्ञानके अभावका वाचक नहीं है, प्रत्युत अधूरे ज्ञानका वाचक है। बौद्धिक ज्ञान अधूरा ज्ञान है। अधूरे ज्ञानसे ही ज्ञानका अभिमान उत्पन्न होता है। पूर्ण ज्ञान होनेसे अभिमान मिट जाता है। अतः बौद्धिक ज्ञानको महत्त्व देना बहुत बड़ा अज्ञान है। बौद्धिक ज्ञानको महत्त्व देनेसे वास्तविक ज्ञानकी ओर दृष्टि नहीं जाती—यही अज्ञानके द्वारा ज्ञानको ढकना है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

परन्तु जिन्होंने अपने जिस ज्ञानके द्वारा उस अज्ञानका नाश कर दिया है, उनका वह ज्ञान सूर्यकी तरह परमतत्त्व परमात्माको प्रकाशित कर देता है।

व्याख्या— अपने विवेकको महत्त्व देनेसे अज्ञानका नाश हो जाता है। अज्ञानका नाश होनेपर वह विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है।

अज्ञानका नाश विवेकको महत्त्व देनेसे होता है, अभ्याससे नहीं। अभ्यास करनेसे जड़ताके साथ सम्बन्ध बना रहता है; क्योंकि जड़ता (शरीरादि)-की सहायता लिये बिना अभ्यास होता ही नहीं। तत्त्वज्ञानका अनुभव जड़ताके द्वारा नहीं होता, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

जिनका मन तदाकार हो रहा है, जिनकी बुद्धि तदाकार हो रही है, जिनकी स्थिति परमात्मतत्त्वमें है, ऐसे परमात्मपरायण साधक ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्ति (परमगति)-को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या— जहाँ मन-बुद्धि लगते हैं, वहाँ स्वयं भी लग जाता है—यह जीवका स्वभाव है। अतः मन-बुद्धि परमात्मामें लगनेपर स्वयं भी परमात्मामें लग जाता है (गीता १२।८)। स्वयं परमात्मामें लगनेपर अहम् (चिज्जड़ग्रन्थि) मिट जाता है। अहम् मिटनेपर सभी विकार मिट जाते हैं; क्योंकि सभी विकार, पाप, ताप अहम्पर ही टिके हुए हैं। अहम् मिटनेपर साधक साधनमें और साधन साध्यमें विलीन हो जाता है। फिर एक परमात्माके सिवाय अन्य कोई सत्ता नहीं रहती। यही अपुनरावृत्तिको प्राप्त होना है। कारण कि जो परमात्मतत्त्व सब देश, काल आदिमें परिपूर्ण है, उसे प्राप्त होनेपर पुनरावृत्तिका प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥

ज्ञानी महापुरुष विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें भी समरूप परमात्माको देखनेवाले होते हैं।

व्याख्या—बेसमझ लोगोंके द्वारा यह श्लोक प्रायः सम-व्यवहारके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु इस श्लोकमें 'समवर्तिनः' न कहकर 'समदर्शिनः' कहा गया है, जिसका अर्थ है—समदृष्टि, न कि सम-व्यवहार। यदि स्थूलदृष्टिसे भी देखें तो ब्राह्मण, चाण्डाल, गाय, हाथी और कुत्तेके प्रति सम-व्यवहार असम्भव है। इनमें विषमता अनिवार्य है। जैसे, पूजन विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणका ही हो सकता है, न कि चाण्डालका; दूध गायका ही पीया जाता है, न कि कुतियाका; सवारी हाथीपर ही की जा सकती है, न कि कुत्तेपर। जैसे शरीरके प्रत्येक अंगके व्यवहारमें विषमता अनिवार्य है, पर सुख-दुःखमें समता होती है अर्थात् शरीरके किसी भी अंगका सुख हमारा सुख होता है और दुःख हमारा दुःख। हमें किसी भी अंगकी पीड़ा सह्य नहीं होती। ऐसे ही प्राणियोंसे विषम (यथायोग्य) व्यवहार करते हुए भी उनके सुख-दुःखमें समभाव होना चाहिये।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९॥

जिनका अन्तःकरण समतामें स्थित है, उन्होंने इस जीवित-अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसारको जीत लिया है अर्थात् वे जीवन्मुक्त हो गये हैं; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिये वे ब्रह्ममें ही स्थित हैं।

व्याख्या— **परमात्मतत्त्वमें स्थित हुए महापुरुषकी पहचान है—बुद्धिमें समता आना अर्थात् बुद्धिमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार न होना। जिसकी बुद्धि समतामें स्थित हो गयी है, उसे जीवन्मुक्त समझना चाहिये।**

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥

जो प्रियको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिर बुद्धिवाला मूढ़तारहित (ज्ञानी) तथा ब्रह्मको जाननेवाला मनुष्य ब्रह्ममें स्थित है।

व्याख्या—जीवन्मुक्त महापुरुषको प्रियता और अप्रियताका ज्ञान तो होता है, पर उसके कहलानेवाले अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं होते। ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत विकार होना दोषी है।

ब्रह्मको जाननेसे अहम् (व्यक्तित्व) मिट जाता है। अहम् मिटनेसे ब्रह्मको जाननेवाला नहीं रहता, प्रत्युत एक ब्रह्म-ही-ब्रह्म रह जाता है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ २१॥

बाह्यस्पर्श (प्राकृत वस्तुमात्रके सम्बन्ध)-में आसक्तिरहित अन्त:करणवाला साधक अन्त:करणमें जो (सात्त्विक) सुख है, उसको प्राप्त होता है। फिर वह ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित मनुष्य अक्षय सुखका अनुभव करता है।

व्याख्या—जब सांसारिक प्राणी-पदार्थोंकी आसक्ति मिट जाती है, तब साधकको सात्त्विक सुख प्राप्त होता है। जब साधक सात्त्विक सुखका भी उपभोग नहीं करता और उसमें सन्तोष नहीं करता, तब उसे अखण्ड सुखका अनुभव होता है। सात्त्विक सुख तो प्राकृत होनेसे खण्डित होता रहता है, पर अखण्ड सुख कभी खण्डित नहीं होता, प्रत्युत निरन्तर एकरस रहता है। यह अखण्ड सुख मोक्षका सुख है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

क्योंकि हे कुन्तीनन्दन! जो इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे पैदा होनेवाले भोग (सुख) हैं, वे आदि-अन्तवाले और दुःखके ही कारण हैं। अतः विवेकशील मनुष्य उनमें रमण नहीं करता।

व्याख्या—संसारके सभी सुख दुःखकी अपेक्षासे हैं। कोई भी सुख निरन्तर नहीं रहता। यदि सांसारिक सुख निरन्तर रहता तो वह दुःखरूप ही हो जाता। कारण कि सांसारिक भोगोंमें निरन्तर सुख देनेकी शक्ति ही नहीं है। निरन्तर सुख देनेकी शक्ति केवल मोक्षके अखण्डरसमें ही है। संसारके प्रत्येक सुखभोगका परिणाम दुःख होता है—यह नियम है।

सांसारिक सुख मिलने और बिछुड़नेवाला है, जबकि स्वयं निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है। सांसारिक सुख स्वयंका साथी नहीं है। इसलिये विवेकी साधक सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिमें सुखी और अप्राप्तिमें दुःखी नहीं होता।

सांसारिक सुखभोगसे थकावट आती है और पारमार्थिक सुखसे विश्राम मिलता है। सांसारिक सुख सापेक्ष और पारमार्थिक सुख निरपेक्ष है। जब मनुष्यको नींद आती है, तब वह बड़े-से-बड़े सांसारिक सुखका भी त्याग करके सो जाता है। सोनेसे उसकी थकावट मिटती है, विश्राम मिलता है और ताजगी आती है। यदि वह सोये नहीं तो पागल हो जाय! तात्पर्य है कि सांसारिक सुखका त्याग किये बिना मनुष्य रह सकता ही नहीं।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥

इस मनुष्यशरीरमें जो कोई मनुष्य शरीर छूटनेसे पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ होता है, वह नर योगी है और वही सुखी है।

व्याख्या— विवेकी साधकको चाहिये कि वह काम-क्रोधादि विकारोंको आरम्भमें ही सहन कर ले, उनके अनुसार क्रिया न करे (गीता ३। ३४)। काम-क्रोधादिकी वृत्ति उत्पन्न होते ही उसका त्याग कर दे, अन्यथा एक बार काम-क्रोधादिका वेग उत्पन्न होनेपर साधक तदनुसार क्रिया करनेमें बाध्य हो जाता है (गीता ३। ३६)। काम-क्रोधादिके वशमें न होनेवाला साधक ही वास्तवमें योगी है। जो योगी होता है, वही वास्तवमें सुखी होता है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४॥

जो मनुष्य केवल परमात्मामें सुखवाला और केवल परमात्मामें रमण करनेवाला है तथा जो केवल परमात्मामें ज्ञानवाला है, वह ब्रह्ममें अपनी स्थितिका अनुभव करनेवाला (ब्रह्मरूप बना हुआ) सांख्ययोगी निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५॥

जिनका शरीर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित वशमें है, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं, जिनके सम्पूर्ण संशय मिट गये हैं, जिनके सम्पूर्ण दोष नष्ट हो गये हैं, वे विवेकी साधक निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥

काम-क्रोधसे सर्वथा रहित, जीते हुए मनवाले और स्वरूपका साक्षात्कार किये हुए सांख्ययोगियोंके लिये सब ओरसे (शरीरके रहते हुए अथवा शरीर छूटनेके बाद) निर्वाण ब्रह्म परिपूर्ण है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ २७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बाहरके पदार्थोंको बाहर ही छोड़कर और नेत्रोंकी दृष्टिको भौंहोंके बीचमें (स्थित करके) तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपान वायुको सम करके जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपने वशमें हैं, जो केवल मोक्ष-परायण है तथा जो इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित है, वह मुनि सदा मुक्त ही है।

व्याख्या— **बाहरके पदार्थोंको बाहर ही छोड़नेका तात्पर्य है कि साधककी वृत्तिमें एक परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्य कोई भी सत्ता न रहे। मुक्ति स्वतःसिद्ध है, पर मिलने और बिछुड़नेवाले प्राणी-पदार्थोंकी सत्ता, महत्ता और अपनापन होनेके कारण उसका अनुभव नहीं होता।**

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ २९॥

मुझे सब यज्ञों और तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् (स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी) जानकर भक्त शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— **भगवान् केवल यज्ञों और तपोंके भोक्ता ही नहीं, प्रत्युत भक्तोंके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंके भोक्ता भी हैं (गीता ९।२७)। प्रेमके भोक्ता भी भगवान् ही हैं। कोई किसीको नमस्कार करता है तो उसके भोक्ता भी वही हैं । कोई किसी देवताका पूजन करता है तो उसके भोक्ता भी वही हैं (गीता ९।२३)।**

भगवान् सम्पूर्ण शुभ कर्मोंके भोक्ता हैं, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं और हमारे परम सुहृद् हैं—ऐसा दृढ़तापूर्वक स्वीकार करनेसे साधककी संसारसे ममता हटकर भगवान्‌में आत्मीयता हो जाती है, जिसके होते ही परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसन्न्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥
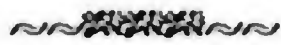
ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ षष्ठोऽध्यायः

छठा अध्याय

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—कर्मफलका आश्रय न लेकर जो कर्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं होता तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं होता।

व्याख्या— संन्यासी अथवा योगी मनुष्य न तो अग्निसे बँधता है, न क्रियाओंसे ही बँधता है, प्रत्युत कर्मफलकी इच्छासे बँधता है—'फले सक्तो निबध्यते' (गीता ५। १२)। अतः जिसने कर्मफलकी इच्छाका त्याग कर दिया है, वही सच्चा संन्यासी अथवा योगी है। कर्मफलकी आसक्तिका त्याग करनेसे परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२। १२)। अतः सच्चा त्यागी भी वही है, जिसने कर्मफलकी आसक्तिका त्याग कर दिया है—'यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते' (गीता १८। ११)।

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

हे अर्जुन! लोग जिसको संन्यास—ऐसा कहते हैं, उसीको तुम योग समझो; क्योंकि संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं हो सकता।

व्याख्या— सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों साधन अलग-अलग होनेपर भी संकल्पोंके त्यागमें एक हैं। जबतक मनुष्यके अन्त:करणमें संसारकी सत्ता, महत्ता और अपनापन है, तबतक वह संकल्पोंका त्याग नहीं कर सकता। संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य ज्ञानयोगी, हठयोगी, ध्यानयोगी, कर्मयोगी, भक्तियोगी आदि कोई-सा भी योगी नहीं होता, प्रत्युत भोगी होता है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

जो योग (समता)-में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये कर्तव्य-कर्म करना कारण कहा गया है और उसी योगारूढ़ मनुष्यका शम (शान्ति) परमात्मप्राप्तिमें कारण कहा गया है।

व्याख्या— निष्कामभावसे केवल दूसरेके लिये कर्म करनेसे करनेका वेग मिट जाता है। कर्म करनेका वेग मिटनेसे साधक योगारूढ़ अर्थात् समतामें स्थित हो जाता है। योगारूढ़ होनेपर एक शान्ति प्राप्त होती है। उस शान्तिका उपभोग न करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

शम (शान्ति)-का अर्थ है—शान्त होना, चुप होना, कुछ न करना। जबतक हमारा सम्बन्ध 'करने' (क्रिया)-के साथ है, तबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है। जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक अशान्ति है, दुःख है, जन्म-मरणरूप बन्धन है। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध 'न करने' से मिटेगा। कारण कि क्रिया और पदार्थ—दोनों प्रकृतिमें हैं। चेतन-तत्त्वमें न क्रिया है, न पदार्थ। इसलिये परमात्मप्राप्तिके लिये 'शम' अर्थात् कुछ न करना ही कारण है। हाँ, अगर हम इस शान्तिका उपभोग करेंगे तो परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी। 'मैं शान्त हूँ'—इस प्रकार शान्तिमें अहंकार लगानेसे और 'बड़ी शान्ति है'—इस प्रकार शान्तिमें सन्तुष्ट होनेसे शान्तिका उपभोग हो जाता है। इसलिये शान्तिमें व्यक्तित्व न मिलाये, प्रत्युत ऐसा समझे कि शान्ति स्वतः है। शान्तिका उपभोग करनेसे शान्ति नहीं रहेगी, प्रत्युत चंचलता अथवा निद्रा आ जायगी। उपभोग न करनेसे शान्ति स्वतः रहेगी। क्रिया और अभिमानके बिना जो स्वतः शान्ति होती है, वह 'योग' है। कारण कि उस शान्तिका कोई कर्ता अथवा भोक्ता नहीं है। जहाँ कर्ता अथवा भोक्ता होता है, वहाँ भोग होता है। भोग होनेपर संसारमें स्थिति होती है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

कारण कि जिस समय न इन्द्रियोंके भोगोंमें तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस समय वह सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी मनुष्य योगारूढ़ कहा जाता है।

व्याख्या— संसारका स्वरूप है—पदार्थ और क्रिया। मनुष्य योगारूढ़ (योगमें स्थित) तभी होता है, जब उसकी पदार्थ और क्रियामें आसक्ति नहीं रहती। जबतक पदार्थ और क्रियाकी आसक्ति है, तबतक वह संसार (विषमता)-में ही स्थित है।

प्रत्येक पदार्थका संयोग और वियोग होता है। प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। प्रत्येक संकल्प उत्पन्न और नष्ट होता है। परन्तु स्वयं नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। इसलिये जब साधक पदार्थ और क्रियाकी आसक्ति मिटा देता है तथा सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग कर देता है, तब वह योगारूढ़ हो जाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे; क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

व्याख्या— गुरु बनना या बनाना गीताका सिद्धान्त नहीं है। वास्तवमें मनुष्य आप ही अपना गुरु है। इसलिये अपनेको ही उपदेश दे अर्थात् दूसरेमें कमी न देखकर अपनेमें ही कमी देखे और उसे मिटानेकी चेष्टा करे। भगवान् भी विद्यमान हैं, तत्त्वज्ञान भी विद्यमान है और हम भी विद्यमान हैं, फिर उद्धारमें देरी क्यों? नाशवान् व्यक्ति, पदार्थ और क्रियामें आसक्तिके कारण ही उद्धारमें देरी हो रही है। इसे मिटानेकी जिम्मेवारी हमपर ही है; क्योंकि हमने ही आसक्ति की है।

पूर्वपक्ष—गुरु, सन्त और भगवान् भी तो मनुष्यका उद्धार करते हैं, ऐसा लोकमें देखा जाता है?

उत्तरपक्ष—गुरु, सन्त और भगवान् भी मनुष्यका तभी उद्धार करते हैं, जब वह स्वयं उन्हें स्वीकार करता है अर्थात् उनपर श्रद्धा-विश्वास करता है, उनके सम्मुख होता है, उनकी शरण लेता है, उनकी आज्ञाका पालन करता है। गुरु, सन्त और भगवान्‌का कभी अभाव नहीं होता, पर अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ तो इससे सिद्ध होता है कि हमने ही उन्हें स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने उन्हें स्वीकार किया, उन्हींका उद्धार हुआ। अतः अपने उद्धार और पतनमें हम ही हेतु हुए।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

जिसने अपने-आपसे अपने-आपको जीत लिया है, उसके लिये आप ही अपना बन्धु है और जिसने अपने-आपको नहीं जीता है, ऐसे अनात्माका आत्मा ही शत्रुतामें शत्रुकी तरह बर्ताव करता है।

व्याख्या—**शरीरको मैं, मेरा और मेरे लिये न मानना अपने साथ मित्रता करना है। शरीरको मैं, मेरा और मेरे लिये मानना अपने साथ शत्रुता करना है। आप ही अपना मित्र बनकर मनुष्य अपना जितना भला कर सकता है, उतना दूसरा कोई मित्र नहीं कर सकता। इसी प्रकार आप ही अपना शत्रु बनकर मनुष्य अपना जितना नुकसान कर सकता है, उतना दूसरा कोई शत्रु नहीं कर सकता।**

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

जिसने अपनेपर विजय कर ली है, उस शीत-उष्ण (अनुकूलता-प्रतिकूलता), सुख-दुःख तथा मान-अपमानमें निर्विकार मनुष्यको परमात्मा नित्यप्राप्त हैं।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जो कूटकी तरह निर्विकार है, जितेन्द्रिय है और मिट्टी, ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें समबुद्धिवाला है—ऐसा योगी युक्त (योगारूढ़) कहा जाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९ ॥

सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और सम्बन्धियोंमें तथा साधु-आचरण करनेवालोंमें और पाप-आचरण करनेवालोंमें भी समबुद्धिवाला मनुष्य श्रेष्ठ है।

व्याख्या—जिनसे व्यवहारमें एकता नहीं करनी चाहिये और एकता कर भी नहीं सकते, उन मिट्टीके ढेले, पत्थर और स्वर्णमें और सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु तथा पापी व्यक्तियोंमें भी कर्मयोगी महापुरुषकी समबुद्धि रहती है। तात्पर्य है कि उसकी दृष्टि सब प्राणी-पदार्थोंमें समरूपसे परिपूर्ण परमात्मतत्त्वपर ही रहती है। जैसे सोनेसे बने गहनोंको देखें तो उनमें बहुत अन्तर दीखता है, पर सोनेको देखें तो कोई अन्तर नहीं, एक सोना-ही-सोना है। इसी प्रकार सांसारिक प्राणी-पदार्थोंको देखें तो उनमें बहुत बड़ा अन्तर है, पर तत्त्वसे देखें तो एक परमात्मा-ही-परमात्मा हैं।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥

भोगबुद्धिसे संग्रह न करनेवाला, इच्छारहित और अन्तःकरण तथा शरीरको वशमें रखनेवाला योगी अकेला एकान्तमें स्थित होकर मनको निरन्तर (परमात्मामें) लगाये।

व्याख्या—ध्यानयोगका अधिकारी वह है, जो अपने सुखभोगके लिये विभिन्न वस्तुओंका संग्रह नहीं करता, जिसके मनमें भोगोंकी कामना नहीं है और जिसका अन्तःकरण तथा शरीर उसके वशमें है। तात्पर्य है कि ध्यानयोगके साधकका उद्देश्य केवल परमात्माको प्राप्त करनेका हो, लौकिक सिद्धियोंको प्राप्त करनेका नहीं।

पूर्वपक्ष—युद्धके समयमें अर्जुनको ध्यानयोगका उपदेश देनेका क्या औचित्य है?

उत्तरपक्ष—अर्जुन पापसे डरते थे, युद्धसे नहीं। उन्हें युद्धसे अधिक अपने कल्याण (श्रेय)-की चिन्ता थी (गीता २।७, ३।२, ५।१)। इसलिये कल्याणके जितने मुख्य साधन हैं, उन सबका भगवान् गीतामें वर्णन करते हैं। इसी कारण गीता मानवमात्रके कल्याणका मार्ग प्रशस्त करती है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

शुद्ध भूमिपर, जिसपर (क्रमशः) कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न अत्यन्त ऊँचा है और न अत्यन्त नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥

उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥

काया, सिर और गलेको सीधे अचल धारण करके तथा दिशाओंको न देखकर केवल अपनी नासिकाके अग्रभागको देखते हुए स्थिर होकर बैठे।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

जिसका अन्तःकरण शान्त है, जो भयरहित है और जो ब्रह्मचारिव्रतमें स्थित है, ऐसा सावधान ध्यानयोगी मनका संयम करके मुझमें चित्त लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे।

व्याख्या— **जिसका अन्तःकरण राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित है, जो शरीरमें मैं-मेरापन न होनेसे भयरहित है और जो ब्रह्मचारीके नियमोंका पालन करता है, वही ध्यानयोगका अधिकारी है। ध्यानयोगी सावधानीपूर्वक मनको संसारसे हटाकर भगवान्‌में लगाये। वह भगवान्‌के ही परायण हो अर्थात् भगवत्प्राप्तिके सिवाय उसका अन्य कोई उद्देश्य नहीं हो।**

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

वशमें किये हुए मनवाला योगी मनको इस तरहसे सदा (परमात्मामें) लगाता हुआ मुझमें सम्यक् स्थितिवाली जो निर्वाणपरमा शान्ति है, उसको प्राप्त हो जाता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६॥

हे अर्जुन! यह योग न तो अधिक खानेवालेका और न बिलकुल न खानेवालेका तथा न अधिक सोनेवालेका और न बिलकुल न सोनेवालेका ही सिद्ध होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका तथा यथायोग्य सोने और जागने-वालेका ही सिद्ध होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥

वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें अपने स्वरूपमें ही स्थित हो जाता है और स्वयं सम्पूर्ण पदार्थोंसे निःस्पृह हो जाता है, उस कालमें वह योगी है—ऐसा कहा जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥

जैसे स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें स्थित दीपककी लौ चेष्टारहित हो जाती है, योगका अभ्यास करते हुए वशमें किये हुए चित्तवाले योगीके चित्तकी वैसी ही उपमा कही गयी है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥

योगका सेवन करनेसे जिस अवस्थामें निरुद्ध चित्त उपराम हो जाता है तथा जिस अवस्थामें स्वयं अपने-आपसे अपने-आपको देखता हुआ अपने-आपमें ही सन्तुष्ट हो जाता है।

व्याख्या— दूसरे अध्यायके पचपनवें श्लोकमें जिस तत्त्वकी प्राप्ति कर्मयोगसे बतायी थी, उसी तत्त्वकी प्राप्ति यहाँ ध्यानयोगसे बतायी गयी है। दोनों साधनोंका प्रापणीय तत्त्व एक होनेपर भी ध्यानयोगमें तत्त्वकी प्राप्ति कठिनतासे तथा विलम्बसे होती है और इसमें योगभ्रष्ट होनेकी भी सम्भावना रहती है (गीता ६। ४१—४४)। कारण कि ध्यानयोग करणसापेक्ष साधन है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥

जो सुख आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य है, उस सुखका जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस सुखमें स्थित हुआ यह ध्यानयोगी तत्त्वसे फिर कभी विचलित नहीं होता।

व्याख्या—ध्यानयोगीको जिस अविनाशी सुखका अनुभव होता है, वह प्रकृतिजन्य गुणोंसे अतीत है। इसलिये उस सुखको 'आत्यन्तिक' अर्थात् सात्त्विक सुखसे विलक्षण, 'अतीन्द्रिय' अर्थात् राजस सुखसे विलक्षण और 'बुद्धिग्राह्य' अर्थात् तामस सुखसे विलक्षण बताया गया है। जड़ताके साथ सम्बन्ध रहनेसे ही मनुष्य विचलित होता है। ध्यानयोगीका जड़तासे सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है; अतः वह तत्त्वसे कभी विचलित नहीं होता। जैसे समाधिसे व्युत्थान होता है, ऐसे उसका अविनाशी सुखसे कभी व्युत्थान नहीं होता।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२॥

जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता।

व्याख्या— **जिस सुखके लाभका तो अन्त नहीं है और हानिकी सम्भावना ही नहीं है, तथा जिसमें दुःखका लेश भी नहीं है—ऐसे अखण्डसुखके प्राप्त होनेमें ही सभी साधनोंकी पूर्णता है।**

तं विद्याद् दु:खसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ २३॥

जिसमें दु:खोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको 'योग' नामसे जानना चाहिये। (वह योग जिस ध्यानयोगका लक्ष्य है), उस ध्यानयोगका अभ्यास न उकताये हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना चाहिये।

व्याख्या— **'संयोग' तथा 'वियोग' का विभाग अलग और 'योग' का विभाग अलग है। शरीर-संसारके संयोगका वियोग तो अवश्यम्भावी है, पर परमात्माके 'योग' का कभी वियोग होता ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं। कारण कि शरीर-संसार कभी हमारे साथ रहते ही नहीं और परमात्मा कभी हमारा साथ छोड़ते ही नहीं। परमात्माका यह योग सभी साधकोंका साध्य है।**

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषत:।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्तत:॥ २४॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग करके और मनसे ही इन्द्रिय-समूहको सभी ओरसे हटाकर।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा (संसारसे) धीरे-धीरे उपराम हो जाय और मन (बुद्धि)-को परमात्मस्वरूपमें सम्यक् प्रकारसे स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे।

व्याख्या— सर्वप्रथम साधक बुद्धिसे यह निश्चय कर ले कि सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति आदिमें एक परमात्मतत्त्व चिन्मय सत्तामात्ररूपसे परिपूर्ण है। उस परमात्मतत्त्वके सिवाय कुछ भी नहीं है। तत्पश्चात् इस निश्चयका भी त्याग करके साधक बाहर-भीतरसे चुप हो जाय अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करे, न संसारका, न आत्माका, न परमात्माका। कारण कि साधक कुछ भी चिन्तन करेगा तो चित्त (जड़) साथमें रहेगा, चित्तसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा। वह किसीका भी चिन्तन करेगा तो किसीका ही चिन्तन होगा और किसीका भी चिन्तन नहीं करेगा तो परमात्माका चिन्तन होगा अर्थात् परमात्मामें स्थिति होगी। अन्य कोई भी चिन्तन यदि अपने-आप आ जाय तो साधक उसकी उपेक्षा कर दे अर्थात् उसमें न तो यह भाव आये कि 'यह बना रहे' और न ही यह भाव आये कि 'यह चला जाय'। उसमें न राग करे, न द्वेष करे और न उसे अपनेमें ही माने। मुझे कुछ भी चिन्तन नहीं करना है—ऐसा आग्रह भी साधक न रखे। साधकका स्वभाव ही स्वतः चुप, शान्त होनेका तथा अपने लिये कुछ न करनेका बन जाय।

पूर्वपक्ष— कुछ भी चिन्तन न करनेसे जो साक्षीभाव रहेगा, वह तो बुद्धिमें ही रहेगा?

उत्तरपक्ष— साक्षीभाव तो बुद्धिमें रहेगा, पर उसका परिणाम स्वयंमें होगा; जैसे—युद्ध तो सेना करती है, पर परिणाममें विजय राजाकी ही होती है। साधकका यह साक्षीभाव भी बिना उद्योग किये स्वतः मिट जायगा।

पूर्वपक्ष— व्यर्थ चिन्तनको मिटानेके लिये परमात्माका चिन्तन करें तो क्या आपत्ति है?

उत्तरपक्ष— एक चिन्तन किया जाता है, एक स्वतः होता है। जैसे भूख लगनेपर अन्नका चिन्तन स्वतः होता है, ऐसे ही साधकको परमात्माका चिन्तन स्वतः होना चाहिये, जो परमात्माकी आवश्यकता समझनेपर ही होगा। परन्तु साधककी प्रायः यह दशा होती है कि उसे परमात्माका चिन्तन तो करना पड़ता है, पर संसारका चिन्तन स्वतः होता है। संसारके चिन्तनको मिटानेके लिये वह बलपूर्वक परमात्माका चिन्तन करता है। इसका परिणाम यह होता है कि बलपूर्वक किये गये चिन्तनका प्रभाव भी अन्तःकरणमें अंकित हो जाता है और संसारका चिन्तन भी होता रहता है। इससे साधकके भीतर यह अभिमान उत्पन्न हो जाता है कि मैंने इतने वर्षोंतक साधन किया अथवा वह निराश हो जाता है कि इतने वर्षोंतक साधन करनेपर भी लाभ नहीं हुआ! अतः साधक निद्रा-आलस्य छोड़कर चुप, शान्त रहनेका स्वभाव बना ले। कुछ भी चिन्तन न करनेसे साधककी स्थिति स्वतः परमात्मामें ही होगी।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

यह अस्थिर और चंचल मन जहाँ-जहाँ विचरण करता है, वहाँ-वहाँसे हटाकर इसको एक परमात्मामें ही भलीभाँति लगाये।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है तथा जिसका मन सर्वथा शान्त (निर्मल) हो गया है, ऐसे इस ब्रह्मरूप बने हुए योगीको निश्चित ही उत्तम (सात्त्विक) सुख प्राप्त होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥

इस प्रकार अपने-आपको सदा परमात्मामें लगाता हुआ पापरहित योगी सुखपूर्वक ब्रह्मप्राप्तिरूप अत्यन्त सुखका अनुभव कर लेता है।

व्याख्या—अपने-आपको परमात्मामें लगानेका तात्पर्य है—कुछ भी चिन्तन न करना अर्थात् बाहर-भीतरसे चुप, शान्त हो जाना। न संसार (बाहर)-का चिन्तन हो, न परमात्मा (भीतर)-का। कुछ भी चिन्तन न करनेसे स्वतः साधककी स्थिति परमात्मतत्त्वमें होती है।

मनको परमात्मामें लगाना करणसापेक्ष साधन है (गीता ६। २६), और अपने-आपको परमात्मामें लगाना करणनिरपेक्ष साधन है। करणनिरपेक्ष साधनमें जड़ताका सम्बन्ध सर्वथा न रहनेसे साधक सुखपूर्वक परमात्माको प्राप्त कर लेता है। परन्तु करणसापेक्ष साधनमें परमात्माको कठिनतापूर्वक प्राप्त किया जाता है (गीता १२। ५)।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

सब जगह अपने स्वरूपको देखनेवाला और ध्यानयोगसे युक्त अन्तःकरणवाला (सांख्ययोगी) अपने स्वरूपको सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित देखता है और सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने स्वरूपमें देखता है।

व्याख्या— **ध्यानयोगके जिस साधकमें ज्ञानके संस्कार रहते हैं, जो ज्ञानको ही मुख्य मानता है, वह जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर स्वयंको सब प्राणियोंमें तथा सब प्राणियोंको स्वयंमें अनुभव करता है।**

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥

जो (भक्त) सबमें मुझे देखता है और मुझमें सबको देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।

व्याख्या— **ध्यानयोगके जिस साधकमें भक्तिके संस्कार रहते हैं, जो भक्तिको ही मुख्य मानता है, वह जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर सबमें भगवान्‌को और भगवान्‌में सबको देखता है। अतः उसके लिये भगवान् अदृश्य नहीं होते और वह भगवान्‌के लिये अदृश्य नहीं होता। जब एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, भगवान् ही अनेक रूपोंमें प्रकट हो रहे हैं, फिर भगवान् कैसे छिपें, कहाँ छिपें, किसके पीछे छिपें?**

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

मुझमें एकीभावसे स्थित हुआ जो भक्तियोगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित मेरा भजन करता है, वह सब कुछ बर्ताव करता हुआ भी मुझमें ही बर्ताव कर रहा है अर्थात् वह नित्य-निरन्तर मुझमें ही स्थित है।

व्याख्या— भगवान्‌का भक्त अपने शरीरके सहित सम्पूर्ण संसारको भगवान्‌का ही स्वरूप समझता है। इसलिये वह नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही रहता है और भगवान्‌में ही सब बर्ताव करता है। उसके भावमें ये पाँच बातें रहती हैं—(१) मैं भगवान्‌का ही हूँ, (२) मैं जहाँ भी रहता हूँ, भगवान्‌के दरबारमें ही रहता हूँ, (३) मैं जो भी शुभ कार्य करता हूँ, भगवान्‌का ही कार्य करता हूँ, (४) मैं शुद्ध-सात्त्विक जो भी पाता हूँ, भगवान्‌का ही प्रसाद पाता हूँ, और (५) भगवान्‌के दिये प्रसादसे भगवान्‌के ही जनोंकी सेवा करता हूँ। जैसे गंगाजलसे गंगाका पूजन किया जाय, ऐसे ही उस भक्तका बर्ताव भगवान्‌में ही होता है। जैसे शरीरसे सम्बन्ध माननेवाला मनुष्य सब क्रियाएँ करते हुए भी निरन्तर शरीरमें ही रहता है, ऐसे ही भक्त सब क्रियाएँ करते हुए भी निरन्तर भगवान्‌में ही रहता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन! जो (भक्त) अपने शरीरकी उपमासे सब जगह मुझे समान देखता है और सुख अथवा दुःखको भी समान देखता है, वह परम योगी माना गया है।

व्याख्या—जैसे सामान्य मनुष्य अपनेको शरीरमें देखता है और शरीरके सभी अंगोंको सुख पहुँचानेका तथा उनका दुःख (पीड़ा) दूर करनेका स्वाभाविक प्रयत्न करता है, वैसे ही सबमें भगवान्‌को देखनेवाला भक्त सभी प्राणियोंको सुख पहुँचानेकी तथा उनका दुःख दूर करनेकी स्वाभाविक चेष्टा करता है। ऐसा करनेमें उसके भीतर किंचिन्मात्र भी अभिमान नहीं होता।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! आपने समतापूर्वक जो यह योग कहा है, मनकी चंचलताके कारण मैं इस योगकी स्थिर स्थिति नहीं देखता हूँ।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

कारण कि हे कृष्ण! मन (बड़ा ही) चंचल, प्रमथनशील, दृढ़ (जिद्दी) और बलवान् है। उसको रोकना मैं (आकाशमें स्थित) वायुकी तरह अत्यन्त कठिन मानता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! यह मन बड़ा चंचल है और इसका निग्रह करना भी बड़ा कठिन है—यह तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। परन्तु हे कुन्तीनन्दन! अभ्यास और वैराग्यके द्वारा इसका निग्रह किया जाता है।

व्याख्या—अर्जुनने दो श्लोकोंमें प्रश्न किया और भगवान्‌ने आधे श्लोकमें ही उसका उत्तर दिया—इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने मनकी एकाग्रताको अधिक महत्त्व नहीं दिया।

**असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥**

जिसका मन पूरा वशमें नहीं है, उसके द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है। परन्तु उपायपूर्वक यत्न करनेवाले तथा वशमें किये हुए मनवाले साधकको योग प्राप्त हो सकता है, ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या—अर्जुनने ध्यानयोगके सिद्ध होनेमें मनकी चंचलताको बाधक मान लिया। वास्तवमें मनकी चंचलता उतनी बाधक नहीं है, जितना मनका वशमें न होना बाधक है। पतिव्रता स्त्री मनको एकाग्र नहीं करती, प्रत्युत मनको वशमें रखती है।

मन एकाग्र होनेसे (अन्तःकरणमें स्थित रागके कारण) सिद्धियाँ आती हैं, जिससे जड़ताके साथ सम्बन्ध बना रहता है। दूसरी बात, मनको एकाग्र करनेके लिये अभ्यास आवश्यक है, जो जड़ताकी सहायताके बिना सम्भव नहीं है, तीसरी बात, एकाग्र होनेपर मन कुछ समयके लिये निरुद्ध हो जाता है, जिससे फिर व्युत्थान हो जाता है। यह व्युत्थान जड़तासे सम्बन्ध होनेके कारण ही होता है। तात्पर्य है कि मन एकाग्र होनेसे जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। परन्तु रागका नाश होनेपर जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसलिये भगवान्‌के मतमें मनकी एकाग्रताका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत रागरहित होनेका महत्त्व है।

मनको वशमें अर्थात् शुद्ध करनेके दो उपाय हैं—कहीं भी राग-द्वेष न होना और सबमें भगवान्‌को देखना। जबतक साधकके भीतर राग-द्वेष रहते हैं, तबतक वह सबमें भगवान्‌को नहीं देख पाता। जबतक साधक सबमें भगवान्‌को नहीं देखता, तबतक मन सर्वथा वशमें नहीं होता। कारण कि जबतक साधककी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ताकी मान्यता रहती है, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं हो सकता।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जिसकी साधनमें श्रद्धा है, पर जिसका प्रयत्न शिथिल है, वह (अन्तसमयमें) अगर योगसे विचलित हो जाय तो वह योगसिद्धिको प्राप्त न करके किस गतिको चला जाता है?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥

हे महाबाहो! संसारके आश्रयसे रहित और परमात्मप्राप्तिके मार्गमें मोहित अर्थात् विचलित—इस तरह दोनों ओरसे भ्रष्ट हुआ साधक क्या छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ ३९॥

हे कृष्ण! मेरे इस सन्देहका सर्वथा छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं; क्योंकि इस संशयका छेदन करनेवाला आपके सिवाय दूसरा कोई हो नहीं सकता।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥ ४०॥

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन! उसका न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही विनाश होता है; क्योंकि हे प्यारे! कल्याणकारी काम करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको नहीं जाता।

व्याख्या—जैसे कोई बद्रीनाथकी यात्रापर निकले तो वह रात होते-होते जहाँतक पहुँच चुका है, प्रातः उठनेके बाद वह वहींसे यात्रा आरम्भ करता है। रातको सोनेपर वह वापिस अपने घर नहीं पहुँच जाता! ऐसे ही ध्यानयोगी जिस स्थितितक पहुँच चुका है, मरनेपर वह उस स्थितिसे नीचे नहीं गिरता। उसका किया हुआ साधन नष्ट नहीं होता। कारण यह है कि उसका उद्देश्य अपने कल्याणका बन चुका है। अब वह दुर्गतिमें नहीं जा सकता। इसलिये परमात्मप्राप्तिके मार्गमें निराश होनेका कोई स्थान नहीं है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥

वह योगभ्रष्ट पुण्यकर्म करनेवालोंके लोकोंको प्राप्त होकर और वहाँ बहुत वर्षोंतक रहकर फिर यहाँ शुद्ध (ममतारहित) श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥

अथवा (वैराग्यवान् योगभ्रष्ट) ज्ञानवान् योगियोंके कुलमें ही जन्म लेता है। इस प्रकारका जो यह जन्म है, यह संसारमें निःसन्देह बहुत ही दुर्लभ है।

व्याख्या—**जिस साधकके भीतर भोगोंकी वासना नहीं मिटी है, ऐसा साधक योगभ्रष्ट होनेपर स्वर्गादि उच्च लोकोंमें जाता है, फिर श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। परन्तु जिस साधकके भीतर भोगोंकी वासना मिट गयी है, ऐसा साधक (सूक्ष्म वासनाके कारण अन्त समयमें विषय-चिन्तन होनेसे) स्वर्गादि लोकोंमें न जाकर सीधे योगियोंके घरमें जन्म लेता है।**

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥

हे कुरुनन्दन! वहाँपर उसको पिछले मनुष्यजन्मकी साधन-सम्पत्ति (अनायास ही) प्राप्त हो जाती है। फिर उससे (वह) साधनकी सिद्धिके विषयमें पुनः (विशेषतासे) यत्न करता है।

व्याख्या—योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाले साधककी बुद्धिमें पूर्वजन्मके बैठे हुए संस्कार स्वतः जाग्रत् हो जाते हैं। पहले किया हुआ साधन उसे बिना परिश्रम प्राप्त हो जाता है। सांसारिक सम्पत्ति तो मरनेपर सर्वथा छूट जाती है, पर पारमार्थिक सम्पत्ति मरनेपर भी साथ जाती है। कारण कि सांसारिक सम्पत्ति बाह्य है और पारमार्थिक सम्पत्ति आन्तरिक। स्वयंमें बैठी बात नष्ट नहीं होती।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥

वह (श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट मनुष्य) भोगोंके परवश होता हुआ भी उस पहले मनुष्यजन्ममें किये हुए अभ्यास (साधन)-के कारण ही (परमात्माकी तरफ) खिंच जाता है; क्योंकि योग (समता)-का जिज्ञासु भी वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है।

व्याख्या— **स्वर्गादि लोकोंसे लौटकर श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला साधक पहले किये हुए साधनके कारण जबर्दस्ती परमात्माकी तरफ खिंच जाता है।**

जो योगमें प्रवृत्त नहीं हुआ है, पर अन्तःकरणमें योगका महत्त्व होनेके कारण जो योगको प्राप्त करना चाहता है, ऐसा योगका जिज्ञासु भी वेदोक्त सकामकर्मोंसे तथा उनके फलसे ऊँचा उठ जाता है, फिर जो योगमें लगा हुआ है और योगभ्रष्ट हो गया है, उसका कल्याण हो जाय—इसमें कहना ही क्या है!

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥

परन्तु जो योगी प्रयत्नपूर्वक यत्न करता है और जिसके पाप नष्ट हो गये हैं तथा जो अनेक जन्मोंसे सिद्ध हुआ है, वह योगी फिर परम गतिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—'अनेकजन्म' का अर्थ है—एकसे अधिक जन्म। श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला सर्वप्रथम मनुष्यजन्ममें साधन करके शुद्ध हुआ, फिर स्वर्गादि लोकोंमें जाकर वहाँके भोगोंसे अरुचि होनेसे शुद्ध हुआ, और फिर श्रीमानोंके घर जन्म लेकर तत्परतापूर्वक साधनमें लगकर शुद्ध हुआ—इस प्रकार तीन जन्मोंमें शुद्ध होना ही उसका 'अनेकजन्मसंसिद्ध' होना है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ ४६॥

(सकामभाववाले) तपस्वियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है और कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है—ऐसा मेरा मत है। अतः हे अर्जुन! तू योगी हो जा।

व्याख्या—जो लौकिक सिद्धियोंको पानेके लिये तपस्या करते हैं, जो शास्त्रोंके ज्ञाता हैं और जो सकामभावसे यज्ञ, दान आदि कर्म करते हैं, उन सबसे योगी श्रेष्ठ है। कारण कि तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—इन तीनोंका उद्देश्य संसार है और भाव सकाम है; परन्तु योगीका उद्देश्य परमात्मा है और भाव निष्काम है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें तल्लीन हुए मनसे मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है।

व्याख्या— **तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्मियोंसे तो योगी श्रेष्ठ है, पर योगियोंसे भी भगवान्‌का भक्त सर्वश्रेष्ठ है। योगी तो योगभ्रष्ट हो सकता है, पर भक्त कभी योगभ्रष्ट हो सकता ही नहीं; क्योंकि वह भगवान्‌के आश्रित रहता है। भगवान्‌के ही आश्रित रहनेके कारण भगवान् उसकी विशेष रक्षा करते हैं। योगीमें तो मुक्त होनेपर भी अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध रह सकती है, पर भक्तमें अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध भी नहीं रहती। भक्तको उस प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होती है, जिसकी भूख महायोगेश्वर भगवान्‌में भी है!**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ सप्तमोऽध्यायः

सातवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन! मुझमें आसक्त मनवाला, मेरे आश्रित होकर योगका अभ्यास करता हुआ तू मेरे जिस समग्ररूपको निःसन्देह जिस प्रकारसे जानेगा, उसको (उसी प्रकारसे) सुन।

व्याख्या— **आत्मीयताके कारण जिसका मन भगवान्‌की ओर आकर्षित हो गया है, जो सब प्रकारसे भगवान्‌के आश्रित हो गया है और जिसने भगवान्‌के साथ अपने नित्य-सम्बन्धको पहचान लिया है, ऐसा भक्त भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि सब कुछ एक भगवान् ही हैं—यह भगवान्‌का समग्ररूप है। भगवान् कहते हैं कि पार्थ! अपने समग्ररूपका वर्णन मैं इस ढंगसे करूँगा, जिससे तू मेरे समग्ररूपको सुगमतापूर्वक यथार्थरूपसे जान लेगा और तेरे सब संशय मिट जायँगे।**

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

तेरे लिये मैं यह विज्ञानसहित ज्ञान सम्पूर्णतासे कहूँगा, जिसको जाननेके बाद फिर इस विषयमें जाननेयोग्य अन्य (कुछ भी) शेष नहीं रहेगा।

व्याख्या— **परा तथा अपरा प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—यह 'ज्ञान' है और परा-अपरा सब कुछ एक भगवान् ही हैं—यह 'विज्ञान' है। अहम्‌सहित सब कुछ भगवान् हैं—यह भगवान्‌का समग्ररूप ही 'विज्ञानसहित ज्ञान' है। इस विज्ञानसहित ज्ञानको जाननेके बाद और कुछ भी जानना शेष नहीं रहता; क्योंकि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसे जाननेके बाद यदि कुछ शेष रहेगा तो वह भी भगवान् ही होंगे!**

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

हजारों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धि (कल्याण)-के लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धों (मुक्त पुरुषों)-में कोई एक ही मुझे यथार्थरूपसे जानता है।

व्याख्या— वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कठिन या दुर्लभ नहीं है, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिके मार्गपर चलनेवाले बहुत कम हैं। अधिकतर मनुष्य सांसारिक भोग और संग्रहमें ही रचे-पचे रहते हैं। इसलिये हजारों मनुष्योंमें कोई एक ही मनुष्य लगनपूर्वक परमात्माकी तरफ चलता है। परन्तु लगनके साथ भोगेच्छा, मान-बड़ाई और आरामकी इच्छा भी रहनेके कारण उनमें भी कोई एक परमात्मतत्त्वको प्राप्त करता है। परमात्माको प्राप्त उन जीवन्मुक्त ज्ञानी महापुरुषोंमें भी कोई एक ही भगवान्‌को जाननेकी इच्छावाला तथा भगवान्‌पर विश्वास रखनेवाला महापुरुष 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस प्रकार भगवान्‌के समग्ररूपको जानता है और भगवत्प्रेमको प्राप्त करता है। तात्पर्य है कि भगवान्‌के समग्ररूपको जाननेवाला प्रेमी भक्त अत्यन्त दुर्लभ है (गीता ७। १९)। [1546] गी० प्र० ७

भगवान्‌के समग्ररूपको जानना ही भगवान्‌को यथार्थरूपसे जानना है। भगवान्‌के यथार्थरूपको भक्तिसे ही जाना जा सकता है (गीता १८। ५५)।

जिस साधकके भीतर भक्तिके संस्कार हैं, जो भक्तिका खण्डन नहीं करता, वह जब मुक्त होता है तब उसके भीतर नाशवान् रसकी कामना तो सर्वथा मिट जाती है, पर अनन्तरसकी भूख नहीं मिटती। तब भगवान् कृपा करके उसकी मुक्तिके अखण्डरसको फीका कर देते हैं और प्रेमका अनन्तरस प्रदान करते हैं।

<u>किसी वस्तुके आकर्षणसे जो सुख मिलता है, वह सुख उस वस्तुके ज्ञानसे नहीं मिलता—यह सिद्धान्त है।</u> जैसे, रुपयोंके आकर्षण (लोभ)-से जो सुख मिलता है, वह रुपयोंके ज्ञानसे नहीं मिलता।

कर्मयोगमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर शान्त आनन्द (शान्ति) मिलता है। ज्ञानयोगमें स्वरूपका बोध होनेपर अखण्ड आनन्द मिलता है। भक्तियोगमें भगवान्‌की ओर आकर्षण होनेसे अनन्त आनन्द (प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम) मिलता है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश (—ये पंचमहाभूत) और मन, बुद्धि तथा अहंकार—इस प्रकार यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी यह अपरा प्रकृति है; और हे महाबाहो! इस अपरा प्रकृतिसे भिन्न जीवरूप बनी हुई मेरी परा प्रकृतिको जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।

व्याख्या— जब चेतन-तत्त्व अपरा प्रकृतिके अहंकारके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब वह 'परा प्रकृति' कहलाता है। अपरा (जगत्) और परा (जीव)—दोनों ही भगवान्‌की प्रकृतियाँ अर्थात् शक्तियाँ हैं, स्वभाव हैं। शक्तिमान्‌के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। जैसे नख और केश निष्प्राण होते हुए भी प्राणयुक्त शरीरसे भिन्न नहीं होते, ऐसे ही अपरा प्रकृति जड़ होते हुए भी चेतन परमात्मासे भिन्न नहीं होती। अतः अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌का स्वरूप होनेसे भगवान्‌के सिवाय कुछ भी शेष नहीं रहा!

इस जगत्‌को जीवने ही धारण कर रखा है। तात्पर्य है कि जगत् न तो परमात्माकी दृष्टिमें है, न महात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टिमें है। जीवने ही जगत्‌को सत्ता और महत्ता देकर उसमें अपनापन कर लिया और जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ गया।

पृथ्वीसे लेकर अहंकारतक सब जड़ अपरा प्रकृति है। अतः जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि आदि जाननेमें आनेवाले हैं, ऐसे ही अहंकार भी जाननेमें आनेवाला है। उस अहंकारसे तादात्म्य करके जीव अपनेको 'मैं हूँ'—ऐसा मान लेता है। इसमें 'मैं' तो अपरा प्रकृति है और 'हूँ' परा प्रकृति है। अहंकारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'मैं' का तो अभाव हो जाता है और 'हूँ' चिन्मय सत्तामात्र 'है' में परिणत हो जाता है—यही मोक्ष है।

अहम्‌को धारण करनेसे जीवने सम्पूर्ण अपरा प्रकृतिको धारण कर लिया। 'मैं हूँ'—इस अभिमानको रखना ही अपरा प्रकृतिको धारण करना है। यदि अहम् अभिमानशून्य हो जाय अर्थात् अभिमान न रहकर अपरा प्रकृतिका शुद्ध अहम् रह जाय तो वह बन्धनकारक नहीं होता; जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि आदि कभी बन्धनकारक नहीं होते।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके उत्पन्न होनेमें अपरा और परा—इन दोनों प्रकृतियोंका संयोग ही कारण है—ऐसा तुम समझो। मैं सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव तथा प्रलय हूँ।

व्याख्या—अनन्त ब्रह्माण्डोंमें स्थावर-जंगम, थलचर-जलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज, मनुष्य, देवता, गन्धर्व, पितर, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि जितने भी प्राणी देखने-सुनने-पढ़नेमें आते हैं, वे सब अपरा और परा—इन दोनोंके माने हुए संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं। अपरा और पराका संयोग ही सम्पूर्ण संसारका बीज है।

मैं सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव तथा प्रलय हूँ—इससे भगवान्‌का तात्पर्य है कि मैं ही सम्पूर्ण संसारको उत्पन्न करनेवाला हूँ और मैं ही उत्पन्न होनेवाला हूँ, मैं ही नाश करनेवाला हूँ और मैं ही नष्ट होनेवाला हूँ; क्योंकि मेरे सिवाय संसारका अन्य कोई भी कारण तथा कार्य नहीं है। मैं ही इसका निमित्त और उपादान कारण हूँ।

भगवान् ही जगद्रूपसे प्रकट हुए हैं। यह जगत् भगवान्‌का आदि अवतार है—'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य' (श्रीमद्भा० २। ६। ४१)। आदि अवतार होनेसे जगत् नहीं है, केवल भगवान् ही हैं।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

इसलिये हे धनंजय! मेरे सिवाय (इस जगत्‌का) दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी (कारण तथा कार्य) नहीं है। जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही यह सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही ओतप्रोत है।

व्याख्या—जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई हों तो उनमें सूतके सिवाय अन्य कुछ नहीं है, ऐसे ही मणिरूप अपरा प्रकृति और धागारूप परा प्रकृति—दोनोंमें एक भगवान् ही परिपूर्ण हैं अर्थात् एक भगवान्‌के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो न धागा है, न मणियाँ हैं, प्रत्युत एक सूत (रुई) ही है। इसी तरह न परा है, न अपरा है, प्रत्युत एक परमात्मा ही हैं।

इस श्लोकमें आये 'मत्तः परतरं नान्यत्' **पदोंसे आरम्भ करके बारहवें श्लोकके** 'मत्त एवेति तान्विद्धि' **पदोंतक भगवान्‌ने यही सिद्ध किया है कि मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है, सब कुछ मैं ही हूँ।**

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

हे कुन्तीनन्दन! जलोंमें रस मैं हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रभा (प्रकाश) मैं हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें प्रणव (ओंकार), आकाशमें शब्द और मनुष्योंमें पुरुषत्व मैं हूँ।

व्याख्या— **सृष्टिकी रचनामें भगवान् ही कर्ता होते हैं, भगवान् ही कारण होते हैं और भगवान् ही कार्य होते हैं। इस दृष्टिसे रस-तन्मात्रा और जल, प्रभा और चन्द्र-सूर्य, ओंकार और वेद, शब्द-तन्मात्रा और आकाश, पुरुषत्व और मनुष्य—ये सब-के-सब (कारण तथा कार्य) एक भगवान् ही हैं।**

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

पृथ्वीमें पवित्र गन्ध मैं हूँ और अग्निमें तेज मैं हूँ तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें जीवनीशक्ति मैं हूँ और तपस्वियोंमें तपस्या मैं हूँ।

व्याख्या— **गन्ध और पृथ्वी, तेज और अग्नि, जीवनीशक्ति और प्राणी, तप और तपस्वी—ये सब-के-सब (कारण तथा कार्य) एक भगवान् ही हैं।**

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥

हे पृथानन्दन! सम्पूर्ण प्राणियोंका अनादि बीज मुझे जान। बुद्धिमानोंमें बुद्धि और तेजस्वियोंमें तेज मैं हूँ।

व्याख्या—बीज और प्राणी, बुद्धि और बुद्धिमान्, तेज और तेजस्वी—ये सब-के-सब (कारण तथा कार्य) एक भगवान् ही हैं।

अनन्त अलग-अलग ब्रह्माण्ड हैं और उनमें अनन्त अलग-अलग जीव हैं, पर उन सम्पूर्ण जीवोंका बीज एक ही परमात्मा हैं। एक ही परमात्मासे अनेक प्रकारके प्राणी उत्पन्न होते हैं। लौकिक बीज तो वृक्ष उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है, पर अनन्त सृष्टियाँ उत्पन्न होनेपर भी परमात्मरूपी बीज ज्यों-का-त्यों रहता है (गीता ९।१८)।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! बलवानोंमें काम और रागसे रहित बल मैं हूँ और प्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध (धर्मयुक्त) काम मैं हूँ।

व्याख्या— सात्त्विक बल और बलवान्, धर्मयुक्त काम और प्राणी—ये सब-के-सब एक भगवान् ही हैं।

पूर्वपक्ष— तामसी बल और धर्मविरुद्ध काम क्या भगवान् नहीं हैं?

उत्तरपक्ष— भगवान् होते हुए भी ये त्याज्य हैं, ग्राह्य नहीं। कारण कि तामसी बल और धर्मविरुद्ध कामके परिणामस्वरूप दुःख, पीड़ा, सन्ताप, नरक आदिके रूपमें भगवान् मिलते हैं, जो किसीके भी अभीष्ट नहीं हैं।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥

(और तो क्या हूँ—) जितने भी सात्त्विक भाव हैं और जितने भी राजस तथा तामस भाव हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं—ऐसा उनको समझो। परन्तु मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं।

व्याख्या—शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो सात्त्विक, राजस तथा तामस भाव, क्रिया, पदार्थ आदि ग्रहण किये जाते हैं, वे सब भगवान् ही हैं। 'मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं'—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि साधककी दृष्टि सात्त्विक, राजस तथा तामस भावोंकी ओर न जाकर भगवान्‌की ओर ही जानी चाहिये। यदि उसकी दृष्टि भावों (गुणों)-की ओर जायगी तो वह उनमें उलझकर जन्म-मरणमें चला जायगा (गीता १३। २१)।

सम्पूर्ण सात्त्विक, राजस और तामस भाव भगवत्स्वरूप हैं—यह सिद्ध पुरुषोंकी दृष्टि है, और भगवान् उनमें और वे भगवान्‌में नहीं हैं—यह साधकोंकी दृष्टि है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥

किन्तु इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सम्पूर्ण जगत् (प्राणिमात्र) इन गुणोंसे अतीत और अविनाशी मुझे नहीं जानता।

व्याख्या—जो मनुष्य भगवान्‌को न देखकर गुणोंको देखते हैं अर्थात् गुणोंकी स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं, वे गुणोंसे मोहित हो जाते हैं। गुणोंसे मोहित मनुष्य गुणातीत परमात्माको नहीं जान सकते।

यद्यपि परमात्माका अंश होनेसे जीवात्मा भी गुणातीत है, तथापि गुणोंको सत्ता और महत्ता देनेसे वह भी गुणमय जगत् बन जाता है। इसी कारण इस श्लोकमें जीवात्माको 'जगत्' कहा गया है। जगत् बना हुआ जीवात्मा शरीर-संसारको ही मैं, मेरा और मेरे लिये मान लेता है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥

क्योंकि मेरी यह गुणमयी दैवी माया दुरत्यय है अर्थात् इससे पार पाना बड़ा कठिन है। जो केवल मेरे ही शरण होते हैं, वे इस मायाको तर जाते हैं।

व्याख्या—**जो मनुष्य भगवान्‌की गुणमयी माया (तीनों गुणों)-की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता मानते हैं, उनके लिये इस मायासे पार पाना बहुत ही कठिन है। यह गुणमयी माया है तो भगवान्‌की—**'मम माया', **पर जीव इसे अपनी और अपने लिये मानकर बँध जाता है। इस मायासे पार पानेका सुगम उपाय है—शरणागति अर्थात् किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये न मानकर भगवान्‌की और भगवान्‌के लिये ही मान लेना।**

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

परन्तु मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा गया है, वे आसुर भावका आश्रय लेनेवाले और मनुष्योंमें महान् नीच तथा पाप-कर्म करनेवाले मूढ़ मनुष्य मेरे शरण नहीं होते।

व्याख्या—यद्यपि भगवान्‌ने सभीको अपनी शरणमें ले रखा है; परन्तु भोग तथा संग्रहकी आसक्तिमें रचे-पचे मनुष्य भगवान्‌की शरण न लेकर संसारकी शरण लेते हैं और परिणाममें दुःख पाते हैं।

पूर्वपक्ष—भगवान्‌की मायाने सबको बाँध रखा है, फिर मनुष्य बेचारा क्या करे?

उत्तरपक्ष— भगवान्‌की माया किसीको भी नहीं बाँधती। मनुष्य ही भगवान्‌की मायाको अपनी और अपने लिये मानकर बँधता है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! पवित्र कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् प्रेमी—ये चार प्रकारके मनुष्य मेरा भजन करते हैं अर्थात् मेरे शरण होते हैं।

व्याख्या— पूर्वश्लोकमें भगवान्से विमुख हुए मनुष्योंकी बात कहकर अब भगवान्के सम्मुख हुए भक्तोंकी बात कहते हैं। ऐसे भक्त चार प्रकारके होते हैं— अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और प्रेमी। जबतक संसारका किंचित् सम्बन्ध रहता है, तबतक अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु—ये तीन भेद रहते हैं। परन्तु संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर मनुष्य ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त होता है।

अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु—तीनोंमें भगवान्की मुख्यता तथा सम्मुखता रहती है। अतः अर्थार्थी भगवान्से ही अपनी धनकी इच्छा पूरी कराना चाहता है। आर्त भगवान्से ही अपना दुःख मिटाना चाहता है। जिज्ञासु भगवान्से ही अपनी जिज्ञासा शान्त कराना चाहता है। जब भक्त एक भगवान्के सिवाय कुछ भी नहीं चाहता, तब वह ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त होता है।

पूर्वपक्ष— ज्ञानीको प्रेमी भक्त कैसे मान लिया गया? यदि उसे तत्त्वज्ञानी मान लें तो क्या आपत्ति है?

उत्तरपक्ष— कुछ ऐसे कारण हैं, जिनसे 'ज्ञानी' को प्रेमी भक्त मानना ही अधिक उपयुक्त दीखता है; जैसे—

(१) भगवान्ने 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' कहकर 'ज्ञानी' को चार प्रकारके भक्तोंके अन्तर्गत लिया है।

(२) भगवान्ने अगले श्लोकमें ज्ञानीको अनन्य-भक्तिवाला कहा है—'एकभक्तिर्विशिष्यते' और अपनेको उसका अत्यन्त प्रिय बताया है—'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्'।

(३) भगवान्ने 'वासुदेवः सर्वम्' का अनुभव करने-वाले भक्तको ही वास्तविक ज्ञानी बताया है (७। १९)।

पूर्वपक्ष—परन्तु भगवान्ने 'भक्त' शब्द न देकर 'ज्ञानी' शब्द दिया ही क्यों?

उत्तरपक्ष—कोई यह न समझ ले कि भक्तमें ज्ञानकी कमी या अभाव रहता है, इसलिये 'ज्ञानी' शब्द देकर भगवान्ने यह बताया है कि मेरे भक्तमें किसी प्रकारकी कोई कमी नहीं रहती। तत्त्वज्ञानीको तो ब्रह्मका ज्ञान होता है, पर भक्तको विज्ञानसहित ज्ञानका अर्थात् समग्रका ज्ञान हो जाता है (गीता ७। २९-३०)।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उन चार भक्तोंमें मुझमें निरन्तर लगा हुआ अनन्य भक्तिवाला ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त श्रेष्ठ है; क्योंकि ज्ञानी भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है।

व्याख्या—अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु सर्वथा भगवान्‌के सम्मुख नहीं होते; परन्तु प्रेमी भक्त (निष्काम होनेसे) सर्वथा भगवान्‌के सम्मुख होता है। इसलिये भक्त और भगवान्—दोनोंमें परस्पर प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी लीला चलती रहती है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥

पहले कहे हुए सब-के-सब (चारों) ही भक्त बड़े उदार (श्रेष्ठ भाववाले) हैं। परन्तु ज्ञानी (प्रेमी) तो मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है। कारण कि वह मुझसे अभिन्न है और जिससे श्रेष्ठ दूसरी कोई गति नहीं है, ऐसे मुझमें ही दृढ़ स्थित है।

व्याख्या—**अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु भक्तको उदार कहना वास्तवमें भगवान्‌की अपनी उदारता है! उनको उदार कहनेका तात्पर्य है कि वे संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो गये।**

तत्त्वज्ञानीकी भगवान्‌के साथ सधर्मता होती है—'मम साधर्म्यमागताः' **(गीता १४। २), पर भक्तकी भगवान्‌के साथ आत्मीयता होती है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'**। साधर्म्यमें जीव और ब्रह्ममें अभेद होता है। आत्मीयतामें भक्त और भगवान्‌में अभिन्नता होती है। अभेदमें जीव और ब्रह्म दोसे एक हो जाते हैं। अभिन्नतामें भक्त और भगवान् प्रेम-लीलाके लिये एकसे दो हो जाते हैं। तत्त्वज्ञानीमें तो सूक्ष्म अहम् रहता है, पर भक्तमें अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है, इसलिये भगवान् कहते हैं—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥

बहुत जन्मोंके अन्तिम जन्ममें अर्थात् मनुष्यजन्ममें सब कुछ परमात्मा ही हैं—इस प्रकार जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा* अत्यन्त दुर्लभ है।

व्याख्या— साधक पहले परमात्माको दूर देखता है, फिर समीप देखता है, फिर अपनेमें देखता है, और फिर केवल परमात्माको ही देखता है। कर्मयोगी परमात्माको समीप देखता है, ज्ञानयोगी परमात्माको अपनेमें देखता है और भक्तियोगी सब जगह परमात्माको ही देखता है। 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—ऐसा अनुभव करना ही असली शरणागति है अर्थात् केवल शरण्य ही रह जाय, शरणागत कोई रहे ही नहीं!

'वासुदेवः सर्वम्'—यह गीताका सर्वोच्च सिद्धान्त है। हमारी दृष्टिमें 'सर्वम्' (संसार)-की सत्ता है, इसलिये भगवान्ने हमें समझानेके लिये 'वासुदेवः सर्वम्' कहा है। वास्तवमें केवल वासुदेव-ही-वासुदेव है, 'सर्वम्' है ही नहीं! कारण कि असत् होनेसे 'सर्वम्' की सत्ता विद्यमान ही नहीं है—'नासतो विद्यते भावः' (गीता २।१६)।

जैसे, खेतमें पहले भी गेहूँ बोया गया था और अन्तमें भी गेहूँ ही निकलेगा, पर बीचमें हरी-हरी घास दीखनेपर भी वह 'गेहूँकी खेती' कहलाती है। उसे गाय खा जाय तो किसान कहता है कि गाय हमारा गेहूँ खा गयी, जबकि गायने गेहूँका एक दाना भी नहीं खाया। इसी प्रकार सृष्टिके पहले भी परमात्मा थे और अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे, पर बीचमें परमात्मा न दीखनेपर भी सब कुछ परमात्मा ही हैं। जैसे गेहूँसे उत्पन्न खेती भी गेहूँ ही है, ऐसे ही परमात्मासे उत्पन्न सृष्टि भी परमात्मा ही है। परमात्माने कहींसे सामान मँगवाकर सृष्टि नहीं बनायी, प्रत्युत वे खुद ही सृष्टिरूप बन गये। अतः सृष्टि भगवान्का प्रथम अवतार है—'आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते' (श्रीमद्भा० ३।६।८)।

जैसे जिसके भीतर प्यास होती है, उसे ही जल दीखता है। प्यास न हो तो जल सामने रहते हुए भी दीखता नहीं। ऐसे ही जिसके भीतर परमात्माकी प्यास (लालसा) है, उसे परमात्मा दीखते हैं और जिसके भीतर संसारकी प्यास है, उसे संसार दीखता है। परमात्माकी प्यास हो तो संसार लुप्त हो जाता है और संसारकी प्यास हो तो परमात्मा लुप्त हो जाते हैं। तात्पर्य है कि संसारकी प्यास होनेसे संसार न होते हुए भी मृगमरीचिकाकी तरह दीखने लग जाता है और परमात्माकी प्यास होनेसे परमात्मा न दीखनेपर भी दीखने लग जाते हैं। परमात्माकी प्यास जाग्रत् होनेपर भक्तको भूतकालका चिन्तन नहीं होता, भविष्यकी आशा नहीं रहती और वर्तमानमें उसे प्राप्त किये बिना चैन नहीं पड़ता।

सब कुछ (समग्ररूपमें) एक भगवान् ही हैं—'वासुदेवः सर्वम्', 'सदसच्चाहम्' (गीता ९।१९)। एक भगवान्के सिवाय कुछ भी न होनेसे भगवान् अकेले हैं, उनके पास (उनसे भिन्न) कुछ भी नहीं है। भगवान्का अंश होनेसे जीवके पास भी भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है; अतः वह भी वास्तवमें अकेला है। जीव भगवान्के सिवाय भूलसे जिसको भी अपना मानता है, वह सब असत् है, त्याज्य है, मिलने और बिछुड़नेवाला है। तात्पर्य है कि भगवान् भी अकिंचन हैं और उनका अंश जीव भी! इसलिये भगवान्ने रुक्मिणीजीसे कहा है—'निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः' (श्रीमद्भा० १०।६०।१४) 'हम सदाके अकिंचन हैं और अकिंचन भक्तोंसे ही हम प्रेम करते हैं तथा वे हमारेसे प्रेम करते हैं।' जब साधक संसारमें शरीरादि किसी भी वस्तु-व्यक्तिको अपना तथा अपने लिये नहीं मानता, प्रत्युत एकमात्र भगवान्को ही अपना तथा अपने लिये मानता है, तब वह अकिंचन होकर भगवान्का प्रेमी हो जाता है—'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (७।१७), 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (७।१८), 'मयि ते तेषु चाप्यहम्' (९।२९)।

* गीतामें 'महात्मा' शब्द केवल भक्तके लिये ही आया है। इसी तरह 'उदार', 'युक्ततम', 'सर्ववित्' आदि शब्द भी भक्तके लिये ही आये हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

परन्तु उन-उन कामनाओंसे जिनका ज्ञान हरा गया है, ऐसे मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभावसे नियन्त्रित होकर उस-उस अर्थात् देवताओंके उन-उन नियमोंको धारण करते हुए अन्य देवताओंके शरण हो जाते हैं।

व्याख्या—जो मनुष्य भगवान्‌से विमुख हैं और संसारके सम्मुख हैं, वे अपनी सांसारिक कामनाओंकी पूर्तिके लिये विभिन्न देवताओंकी शरण लेते हैं। सांसारिक भोग और संग्रहकी कामनाके कारण 'सब कुछ भगवान् ही हैं; देवताओंके रूपमें भी एक भगवान् ही हैं'—यह ज्ञान ढक जाता है।

पूर्वपक्ष—सोलहवें श्लोकमें वर्णित अर्थार्थी और आर्त भक्तमें भी क्रमशः धन पानेकी और दुःख दूर करनेकी कामना है, फिर इस श्लोकमें वर्णित कामनावाले मनुष्योंकी निन्दा क्यों की गयी है?

उत्तरपक्ष—दोनों प्रकारके मनुष्योंमें परस्पर बड़ी भिन्नता है। सोलहवें श्लोकमें वर्णित मनुष्य भक्त हैं और इस श्लोकमें वर्णित मनुष्य सांसारिक हैं। भक्तोंमें भगवान्‌की मुख्यता है और सांसारिक मनुष्योंमें कामनापूर्तिकी मुख्यता है। भक्त एक भगवान्‌का ही आश्रय लेते हैं, पर सांसारिक मनुष्य अनेक देवी-देवताओंका आश्रय लेते हैं; क्योंकि उन्हें कामनापूर्तिसे मतलब है, देवताओंसे नहीं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

जो-जो भक्त जिस-जिस देवताका श्रद्धापूर्वक पूजन करना चाहता है, उस-उस देवतामें ही मैं उसी श्रद्धाको दृढ़ कर देता हूँ।

व्याख्या—संसारमें प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य दूसरे मनुष्योंको अपनी तरफ लगाना चाहते हैं कि वे मुझपर श्रद्धा रखें, मेरे शिष्य बनें, मेरा सम्मान करें, मेरे सम्प्रदायको मानें, मेरी आज्ञा मानें आदि। परन्तु सर्वोपरि होते हुए भी भगवान्‌के स्वभावमें यह बात नहीं है। जो मनुष्य जहाँ लगना चाहता है, भगवान् उसे वहीं लगा देते हैं—यह भगवान्‌का पक्षपातरहित स्वभाव है।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ २२॥

उस (मेरे द्वारा दृढ़ की हुई) श्रद्धासे युक्त होकर वह मनुष्य उस देवताकी (सकामभावपूर्वक) उपासना करता है और उसकी वह कामना पूरी भी होती है; परन्तु वह कामनापूर्ति मेरे द्वारा ही विहित की हुई होती है।

व्याख्या—भगवान् ही मनुष्यकी श्रद्धाको उसकी इच्छाके अनुसार अन्य देवताओंमें दृढ़ करते हैं और वे ही अन्य देवताओंके द्वारा मनुष्यकी कामनाओंकी पूर्ति करवाते हैं—यह भगवान्‌की उदारता है, परन्तु मनुष्य यही समझता है कि अन्य देवताओंकी उपासनासे मेरी कामनापूर्ति हुई है। वास्तवमें सभी देवता भगवान्‌के अधीन हैं। उन्हें कामनापूर्तिका अधिकार और सामर्थ्य भगवान्‌का ही दिया हुआ है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ २३॥

परन्तु उन तुच्छ बुद्धिवाले मनुष्योंको उन देवताओंकी आराधनाका फल अन्तवाला (नाशवान्) ही मिलता है। देवताओंका पूजन करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—जो मनुष्य सकामभाव रखनेवाले तथा देवताओंको भगवान्से भिन्न समझनेवाले हैं, उन्हें नाशवान् फलकी प्राप्ति होती है। जीते-जी तथा मृत्युके बाद उन्हें जो पदार्थ, लोक आदि मिलते हैं, वे सभी नाशवान् अर्थात् मिलने-बिछुड़नेवाले होते हैं। ऐसे मनुष्य अपनेको कितना ही बुद्धिमान् समझें, पर वास्तवमें वे अल्प बुद्धिवाले ही हैं।

पूर्वपक्ष—अर्थार्थी भक्तको भी नाशवान् धनकी प्राप्ति होती है, फिर उसमें और देवताओंका पूजन करनेवालेमें अन्तर क्या हुआ?

उत्तरपक्ष—नाशवान् धन आदि मिलनेपर भी अर्थार्थी और आर्त भक्तमें मुख्यता (महत्ता) भगवान्की ही रहती है, धन आदिकी नहीं। उनमें अर्थार्थीभाव तथा आर्तभाव तो गौण होता है, पर भगवद्भाव मुख्य होता है। इसलिये समय पाकर उनका अर्थार्थीभाव तथा आर्तभाव भी मिट जाता है, टिकता नहीं। परन्तु देवताओंकी उपासना करनेवाले सांसारिक मनुष्योंके हृदयमें धन आदिकी मुख्यता और देवताओंकी गौणता रहती है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥

बुद्धिहीन मनुष्य मेरे परम, अविनाशी और सर्वश्रेष्ठ भावको न जानते हुए अव्यक्त (मन-इन्द्रियोंसे पर) मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी तरह शरीर धारण करनेवाला मानते हैं।

व्याख्या— सकामभावसे देवताओंकी उपासना करनेवाले मनुष्य भगवान्‌को साधारण मनुष्यकी तरह जन्मने-मरनेवाला मानते हैं, इसलिये वे भगवान्‌की उपासना नहीं करते। वास्तवमें भगवान् अव्यक्त भी हैं, व्यक्त भी हैं और अव्यक्त तथा व्यक्त—दोनोंसे परे (निरपेक्ष प्रकाशक) भी हैं—'सदसत्तत्परं यत्' (गीता ११। ३७)।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

यह जो मूढ़ मनुष्य-समुदाय मुझे अज और अविनाशी ठीक तरहसे नहीं जानता (मानता), उन सबके सामने योगमायासे अच्छी तरह ढका हुआ मैं प्रकट नहीं होता।

व्याख्या—**भगवान् अवतारकालमें सबके सामने प्रकट होते हुए भी मूढ़ मनुष्योंको भगवद्रूपसे न दीखकर मनुष्यरूपसे ही दीखते हैं। मनुष्य अपने भावोंके अनुसार ही योगमायासे ढके हुए भगवान्‌को देखते हैं। भगवान् अलौकिक होते हुए भी योगमायासे ढके रहनेके कारण लौकिक प्रतीत होते हैं।**

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥

हे अर्जुन! जो प्राणी भूतकालमें हो चुके हैं तथा जो वर्तमानमें हैं और जो भविष्यमें होंगे, उन सब प्राणियोंको तो मैं जानता हूँ; परन्तु मुझे (भक्तके सिवाय) कोई भी प्राणी नहीं जानता।

व्याख्या—**भगवान्‌की दृष्टिमें भूत-भविष्य-वर्तमान-कालका भेद नहीं है। कालकी सत्ता जीवकी दृष्टिमें है। इसलिये हमें समझानेके लिये भगवान् तीनों कालोंकी बात कहते हैं। तात्पर्य है कि भूत, भविष्य और वर्तमानके सभी जीव निरन्तर भगवान्‌की दृष्टिमें रहते हैं।**

पूर्वपक्ष—'जब भगवान् सब जीवोंको जानते हैं' **तो फिर जिसे बद्ध जानते हैं, वह सदा बद्ध ही रहेगा, मुक्त कैसे होगा?**

उत्तरपक्ष—**यह शंका संसारकी सत्ताको लेकर हमारी दृष्टिमें है। वास्तवमें भगवान् तथा उनके भक्त—दोनोंकी दृष्टिमें भगवान्‌के सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। बन्धन और मोक्ष जीवकी दृष्टिमें हैं। तत्त्वसे न बन्धन है, न मोक्ष, प्रत्युत केवल परमात्मा ही हैं**—'वासुदेवः सर्वम्'। **अपना उद्धार करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है (गीता ६। ५)।**

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ २७॥

कारण कि हे भरतवंशमें उत्पन्न शत्रुतापन अर्जुन! इच्छा (राग) और द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले द्वन्द्व-मोहसे मोहित सम्पूर्ण प्राणी संसारमें (अनादिकालसे) मूढ़ताको अर्थात् जन्म-मरणको प्राप्त हो रहे हैं।

व्याख्या—राग-द्वेषरूप द्वन्द्वसे ही संसारका सम्बन्ध दृढ़ होता है और मनुष्य परमात्मासे विमुख हो जाता है। अतः मनुष्यकी प्रवृत्ति तथा निवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक नहीं होनी चाहिये।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥

परन्तु जिन पुण्यकर्मा मनुष्योंके पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्वमोहसे रहित हुए मनुष्य दृढ़व्रती होकर मेरा भजन करते हैं।

व्याख्या—राग-द्वेषसे रहित होनेपर मनुष्य परमात्माके सम्मुख हो जाता है। परमात्माके सम्मुख होनेपर सब पाप नष्ट हो जाते हैं। जबतक मनुष्यके भीतर राग-द्वेष रहते हैं, तबतक वह सर्वथा परमात्माके सम्मुख नहीं हो सकता। उसका जितने अंशमें संसारसे राग (सम्मुखता) रहता है, उतने अंशमें परमात्मासे द्वेष (विमुखता) रहता है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

वृद्धावस्था और मृत्युसे मुक्ति पानेके लिये जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जान जाते हैं। जो मनुष्य अधिभूत तथा अधिदैवके सहित और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—यद्यपि कर्मयोगी और ज्ञानयोगी भी जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं, तथापि शरणागत भक्त जन्म-मरणसे मुक्त होनेके साथ-साथ भगवान्‌के समग्ररूपको भी जान लेते हैं। ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—यह भगवान्‌का समग्ररूप है। इसके भगवान्‌ने दो विभाग किये हैं। ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), कृत्स्न अध्यात्म (अनन्त योनियोंके अनन्त जीव) तथा अखिल कर्म (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदिकी सम्पूर्ण क्रियाएँ)—यह 'ज्ञान' का विभाग है, जिसमें निर्गुणकी मुख्यता है। अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत्), अधिदैव (मन-इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवतासहित ब्रह्माजी आदि सभी देवता) तथा अधियज्ञ (अन्तर्यामी विष्णु और उनके सभी रूप)—यह 'विज्ञान' का विभाग है, जिसमें सगुणकी मुख्यता है।

जिनमें भक्तिके संस्कार हैं; परन्तु जो जरा-मरणरूप सांसारिक दुःखोंसे छूटना चाहते हैं, ऐसे साधक भगवान्‌का आश्रय लेकर ज्ञानयोगका साधन करते हैं। उन्हें 'तत्' अर्थात् ब्रह्म, सम्पूर्ण अध्यात्म और अखिल कर्मका ज्ञान हो जाता है। परिणामस्वरूप वे जरा-मरणसे मुक्त हो जाते हैं। परन्तु भगवान्‌को चाहनेवाले भक्त भक्तियोगका साधन करते हैं। वे अधियज्ञसहित ब्रह्मको, अधिदैवसहित सम्पूर्ण अध्यात्मको और अधिभूतसहित अखिल कर्मको जान लेते हैं। परिणामस्वरूप उन्हें जरा-मरणसे मुक्तिके साथ-साथ 'माम्' अर्थात् समग्ररूप भगवान्‌का भी ज्ञान हो जाता है (गीता १८। ५५)। इस प्रकार विज्ञानसहित ज्ञानका अर्थात् भगवान्‌के समग्ररूपका अनुभव होनेपर उनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। अतः अन्तकाल आनेपर वे भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। कारण कि अन्तकालमें उन्हें जो भी चिन्तन होगा, वह भगवान्‌का ही चिन्तन होगा—'युक्तचेतसः'। इस तीसवें श्लोकमें आये 'युक्तचेतसः' को ही आगे आठवें अध्यायमें 'अनन्यचेताः' कहा गया है।

इस अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने 'माम्' पदसे अपने समग्ररूपको जाननेकी बात सुनानेकी प्रतिज्ञा की थी, उसी बातका उपसंहार यहाँ 'मां विदुः' पदसे करते हैं।

'तत्' को जाननेवाले संसारसे मुक्त हो जाते हैं और 'माम्' को जाननेवाले समग्ररूप भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं। इसी बातको चौथे अध्यायके पैंतीसवें श्लोकमें 'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि' पदोंसे और अठारहवें अध्यायके चौवनवें श्लोकमें 'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्' पदोंसे कहा गया है। भक्तिके द्वारा समग्ररूप भगवान्‌को प्राप्त होनेकी बात आगे आठवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें भी आयी है।

विज्ञानसहित ज्ञानका अर्थात् भगवान्‌के समग्ररूपका वर्णन करनेका तात्पर्य यही है कि जड़-चेतन, सत्-असत्, परा-अपरा, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, क्षर-अक्षर आदि जो कुछ भी है, वह सब-का-सब एक भगवान्‌का ही स्वरूप है।*

* खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, जीव-जन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं—ऐसा मानकर भक्त सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करता है।'

पहले जिन्हें परमात्मा, परा और अपरा प्रकृति कहा गया था, उन्हींके यहाँ दो-दो भेद किये गये हैं; जैसे—(१) परमात्मा—ब्रह्म और अधियज्ञ, (२) परा प्रकृति—अध्यात्म और अधिदैव, (३) अपरा प्रकृति—कर्म और अधिभूत। तात्पर्य है कि परमात्मा, परा और अपरा—तीनों ही मिलकर भगवान्‌का समग्ररूप है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथाष्टमोऽध्यायः

आठवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

अर्जुन बोले—हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत किसको कहा गया है? और अधिदैव किसको कहा जाता है? यहाँ अधियज्ञ कौन है? और वह इस देहमें कैसे है? हे मधुसूदन! वशीभूत अन्तःकरणवाले मनुष्योंके द्वारा अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं?

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः॥ ३॥

[1546] गी० प्र० ८

श्रीभगवान् बोले—परम अक्षर ब्रह्म है और परा प्रकृति (जीव)-को अध्यात्म कहते हैं। प्राणियोंकी सत्ताको प्रकट करनेवाला त्याग कर्म कहा जाता है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! क्षर भाव अर्थात् नाशवान् पदार्थ अधिभूत हैं, पुरुष अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्मा अधिदैव हैं और इस देहमें (अन्तर्यामी-रूपसे) मैं ही अधियज्ञ हूँ।

व्याख्या— जैसे एक ही जल-तत्त्व परमाणु, भाप, बादल, वर्षाकी क्रिया, बूँदें और ओले (बर्फ)-के रूपसे भिन्न-भिन्न दीखते हुए भी वास्तवमें एक ही है, इसी तरह एक ही परमात्मतत्त्व ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके रूपसे भिन्न-भिन्न दीखते हुए भी वास्तवमें एक ही है। परमाणुरूपसे जल 'ब्रह्म' है, भापरूपसे जल 'अधियज्ञ' है, बादलरूपसे जल 'अधिदैव' है, बूँदेंरूपसे जल 'अध्यात्म' है, वर्षाकी क्रिया 'कर्म' है और बर्फरूपसे जल 'अधिभूत' है। परमात्माके इसी समग्ररूपके लिये गीतामें आया है— 'वासुदेवः सर्वम्' (७। १९), 'सदसच्चाहम्' (९। १९), 'सदसत्तत्परं यत्' (११। ३७)।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥

जो मनुष्य अन्तकालमें भी मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरे स्वरूपको ही प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।

व्याख्या— भगवान्‌ने मनुष्यपर विशेष कृपा करके उसे यह छूट दी है कि उसका जीवन कैसा ही रहा हो, यदि अन्तसमयमें भी वह मुझे याद कर ले तो मैं उसका कल्याण कर दूँगा। कारण कि भगवान्‌ने अहैतुकी कृपासे जीवको अपना कल्याण करनेके लिये ही मनुष्यशरीर दिया है।

वास्तवमें सब समय अन्तसमय ही है; क्योंकि अन्तसमय किसी भी समय आ सकता है। ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिस क्षणमें अन्तसमय न आता हो। इसलिये मनुष्यको हर समय भगवान्‌को याद रखना चाहिये।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७॥

इसलिये तू सब समयमें मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। मुझमें मन और बुद्धि अर्पित करनेवाला तू निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा।

व्याख्या— ऐसा कोई समय नहीं है, जिसमें अन्तकाल (मृत्यु) न आ सके। इसलिये मनुष्यको नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते रहना चाहिये। फिर किसी भी समय अन्तकाल आयेगा तो वह भगवान्‌का स्मरण करते हुए ही शरीर छोड़ेगा, जिससे वह भगवान्‌को ही प्राप्त होगा।

पूर्वपक्ष— यहाँ युद्धका प्रसंग है। निरन्तर भगवत्स्मरण करते हुए युद्ध कैसे होगा और युद्ध करते हुए निरन्तर भगवत्स्मरण कैसे होगा?

उत्तरपक्ष— एक याद करते हैं, एक याद रहती है। जो बात अहंतामें बैठ जाती है, वह भूलती नहीं। अतः साधक सच्चे हृदयसे दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर ले कि 'मैं भगवान्‌का ही हूँ; भगवान् ही मेरे हैं' तो फिर सब कार्य करते हुए भी भगवान्‌की याद स्वतः निरन्तर बनी रहेगी। जैसे, ब्राह्मणको अपने ब्राह्मणपनेका स्मरण बिना याद किये नित्य-निरन्तर बना रहता है। नींदमें भी जगाकर उससे पूछो तो वह यही कहेगा कि मैं ब्राह्मण हूँ। इसमें अभ्यास नहीं है, प्रत्युत स्वीकृति है। विवाह होनेपर पतिव्रता स्त्री बिना याद किये पतिको याद रखती है, स्वप्नमें भी नहीं भूलती। यह स्वीकृति है, जिसकी कभी विस्मृति नहीं होती। भगवान्‌के साथ सम्बन्ध स्वीकार करनेपर साधकके मन-बुद्धि स्वतः भगवान्‌के अर्पित हो जाते हैं।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

हे पृथानन्दन! अभ्यासयोगसे युक्त और अन्यका चिन्तन न करनेवाले चित्तसे परम दिव्य पुरुषका चिन्तन करता हुआ (शरीर छोड़नेवाला मनुष्य) उसीको प्राप्त हो जाता है।

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९॥

जो सर्वज्ञ, अनादि, सबपर शासन करनेवाला, सूक्ष्मसे अत्यन्त सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करने-वाला, अज्ञानसे अत्यन्त परे, सूर्यकी तरह प्रकाश-स्वरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप—ऐसे अचिन्त्य स्वरूपका चिन्तन करता है।

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्-
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥

वह भक्तियुक्त मनुष्य अन्तसमयमें अचल मनसे और योगबलके द्वारा भृकुटीके मध्यमें प्राणोंको अच्छी तरहसे प्रविष्ट करके (शरीर छोड़नेपर) उस परम दिव्य पुरुषको ही प्राप्त होता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ११॥

वेदवेत्ता लोग जिसको अक्षर कहते हैं, वीतराग यति जिसको प्राप्त करते हैं और साधक जिसकी प्राप्तिकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, वह पद मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा।

व्याख्या—**इस श्लोकमें संकेतरूपसे चारों आश्रमोंका वर्णन ले सकते हैं; जैसे—**'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' **पदोंसे गृहस्थाश्रम,** 'विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः' **पदोंसे संन्यास और वानप्रस्थ-आश्रम तथा** 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' **पदोंसे ब्रह्मचर्याश्रम ले सकते हैं। तात्पर्य है कि चारों आश्रमोंका एकमात्र उद्देश्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना है।**

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

(इन्द्रियोंके) सम्पूर्ण द्वारोंको रोककर मनका हृदयमें निरोध करके और अपने प्राणोंको मस्तकमें स्थापित करके योगधारणामें सम्यक् प्रकारसे स्थित हुआ जो साधक 'ॐ' इस एक अक्षर ब्रह्मका (मानसिक) उच्चारण और मेरा स्मरण करता हुआ शरीरको छोड़कर जाता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥

हे पृथानन्दन! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ।

व्याख्या— भक्त केवल भगवान्‌को ही अपना मानता है और सदा उन्हें अपने पास देखता है, इसलिये वह नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही लगा रहता है। उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्यकी सत्ता न होनेसे उसका मन भगवान्‌को छोड़कर कहाँ जाय? कैसे जाय? क्यों जाय? इसलिये वह अनन्य चित्तवाला हो जाता है। उसे भगवान्‌का स्मरण करना नहीं पड़ता, प्रत्युत उसके द्वारा स्वतः भगवान्‌का स्मरण होता है। ऐसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌में लगे हुए भक्तके लिये भगवान् सुलभ हैं।

'सततम्' का अर्थ है—जिस दिनसे साधकने इस बातको पकड़ा, उस दिनसे लेकर मृत्युतक भगवान्‌का स्मरण करे; और 'नित्यशः' का अर्थ है—जबसे नींद खुले, तबसे लेकर गाढ़ नींद आनेतक भगवान्‌का स्मरण करे।

भगवान् सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, अवस्था, परिस्थिति आदिमें परिपूर्ण होनेसे प्राणिमात्रको नित्यप्राप्त हैं। अतः उनके विषयमें सुलभता अथवा दुर्लभता कहना बनता ही नहीं! परन्तु लोगोंने उन्हें दुर्लभ मान रखा है, इस मान्यताको मिटानेके लिये भगवान् यहाँ अपनेको सुलभ बताते हैं।

पूर्वपक्ष— तो फिर सबको भगवत्प्राप्तिका अनुभव क्यों नहीं हो रहा है?

उत्तरपक्ष— जैसे गायके शरीरमें व्याप्त घी किसीके काम नहीं आता, ऐसे ही सबमें व्याप्त होनेपर भी भगवान् लगनके बिना अनुभवमें नहीं आते। लगन न होनेका कारण है—शरीर-संसारको सत्ता और महत्ता देकर उन्हें अपना मानना। इसलिये भगवान्‌ने नित्य-निरन्तर अपनेमें लगे हुए भक्तके लिये ही अपनेको सुलभ बताया है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥

महात्मालोग मुझे प्राप्त करके दुःखालय अर्थात् दुःखोंके घर और अशाश्वत अर्थात् निरन्तर बदलनेवाले पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होते; क्योंकि वे परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं अर्थात् उनको परम प्रेमकी प्राप्ति हो गयी है।

व्याख्या— **भोग और संग्रहमें लगे हुए सकाम मनुष्यके लिये तो यह संसार दुःखालय है, पर सेवा और भगवद्भजनमें लगे हुए निष्काम मनुष्यके लिये यह संसार भगवत्स्वरूप है।**

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति एक बार होती है और सदाके लिये होती है, इसलिये परमात्माको प्राप्त हुए मनुष्यका पुनर्जन्म नहीं होता, वह सदा-सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है। यदि उसमें भक्तिके संस्कार हों तो वह जन्म-मरणसे मुक्तिके साथ-साथ प्रतिक्षण वर्धमान परम प्रेमको भी प्राप्त कर लेता है।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्तीवाले हैं अर्थात् वहाँ जानेपर पुनः लौटकर संसारमें आना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता।

व्याख्या— भोग और संग्रहकी आसक्तिसे ही पुनर्जन्म होता है। इसलिये जिस मनुष्यमें भोग और संग्रहकी आसक्ति है, वह यदि पुण्यकर्मोंके प्रभावसे ब्रह्मलोकतक चला जाय तो भी उसे लौटकर जन्म-मरणमें अर्थात् दुःखालय संसारमें आना ही पड़ता है।

ब्रह्मलोकतक सभी लोकोंकी प्राप्ति कर्मोंका फल है। जब प्रत्येक कर्मका आरम्भ और अन्त होता है तो फिर उसका फल अविनाशी कैसे होगा? परन्तु परमात्माकी प्राप्ति कर्मोंका फल नहीं है। अतः परमात्माकी प्राप्ति होनेपर फिर वहाँसे लौटकर दुःखालय संसारमें नहीं आना पड़ता।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

जो मनुष्य ब्रह्माके एक हजार चतुर्युगीवाले एक दिनको और एक हजार चतुर्युगीवाली एक रात्रिको जानते हैं, वे मनुष्य ब्रह्माके दिन और रातको जाननेवाले हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके ॥ १८ ॥

ब्रह्माके दिनके आरम्भकालमें अव्यक्त (ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर)-से सम्पूर्ण शरीर पैदा होते हैं और ब्रह्माकी रातके आरम्भकालमें उस अव्यक्त नामवाले (ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर)-में ही सम्पूर्ण शरीर लीन हो जाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

हे पार्थ! वही यह प्राणि-समुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके परवश हुआ ब्रह्माके दिनके समय उत्पन्न होता है और ब्रह्माकी रात्रिके समय लीन होता है।

व्याख्या— बदलनेवाले शरीर-संसारका विभाग अलग है और न बदलनेवाले आत्मा-परमात्माका विभाग अलग है। शरीर-संसार तो बार-बार उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं, पर आत्मा-परमात्मा वे-के-वे ही रहते हैं। कितने ही प्रलय-महाप्रलय और सर्ग-महासर्ग क्यों न हो जायँ, जीवात्मा स्वयं वही-का-वही रहता है। इसलिये देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थिति आदिके अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर स्वयंके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। परन्तु शरीरको मैं, मेरा तथा मेरे लिये मान लेनेके कारण शरीरके परिवर्तनको जीवात्मा अपना परिवर्तन मान लेता है और बार-बार जन्मता-मरता रहता है।

जैसे रेलगाड़ीपर चढ़नेसे मनुष्य रेलगाड़ीके परवश हो जाता है, जहाँ रेलगाड़ी जायगी, वहाँ उसे जाना ही पड़ता है, ऐसे ही शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे मनुष्य प्रकृतिके परवश हो जाता है और उसे जन्म-मरणके चक्रमें जाना ही पड़ता है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥

परन्तु उस अव्यक्त (ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर)-से अन्य (विलक्षण) अनादि अत्यन्त श्रेष्ठ भावरूप जो अव्यक्त (ईश्वर) है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।

व्याख्या— ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे भी श्रेष्ठ कारणशरीर (मूल प्रकृति) है और उससे भी श्रेष्ठ परमात्मा हैं। परमात्माके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर उनसे श्रेष्ठ कोई हो ही कैसे सकता है (गीता ११। ४३)। असंख्य ब्रह्माजी उत्पन्न हो-होकर लीन हो गये, पर परमात्मा वैसे-के-वैसे ही हैं।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ २१॥

उसीको अव्यक्त और अक्षर—ऐसा कहा गया है तथा उसीको परम गति कहा गया है और जिसको प्राप्त होनेपर जीव फिर लौटकर संसारमें नहीं आते, वह मेरा परम धाम है।

व्याख्या— **वास्तवमें परमात्मतत्त्व वर्णनातीत है। अव्यक्त, अक्षर, परमगति आदि नाम उस तत्त्वका संकेतमात्र करते हैं; क्योंकि वह अव्यक्त-व्यक्त, अक्षर-क्षर, गति-स्थिति आदिसे रहित निरपेक्ष तत्त्व है। उसे प्राप्त होनेपर जीव लौटकर संसारमें नहीं आता। कारण कि जीव उस परमात्मतत्त्वका सनातन अंश होनेसे उससे अलग नहीं है। संसारमें तो वह भूलसे अपनेको स्थित मानता है। वास्तवमें शरीर ही संसारमें स्थित है, स्वयं नहीं।**

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

हे पृथानन्दन अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जिसके अन्तर्गत हैं और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष परमात्मा तो अनन्यभक्तिसे प्राप्त होनेयोग्य है।

व्याख्या— **ज्ञानमार्गमें तो ज्ञानी पुरुष संसारसे छूट जाता है, मुक्त हो जाता है और अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। परन्तु भक्तिमार्गमें संसारसे मुक्त होनेके साथ-साथ भक्तको भगवान्‌की तथा उनके प्रेमकी भी प्राप्ति हो जाती है। अतः कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं और भक्तियोग साध्य है।**

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥

परन्तु हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! जिस काल अर्थात् मार्गमें शरीर छोड़कर गये हुए योगी अनावृत्तिको प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर नहीं आते और जिस मार्गमें गये हुए आवृत्तिको प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर आते हैं, उस कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको मैं कहूँगा।

व्याख्या— **जैसे किसी स्थानपर हमारी कोई वस्तु (कपड़ा, थैला, रुपये आदि) छूट जाती है तो उसे लेनेके लिये हम वापिस उस स्थानपर जाते हैं, ऐसे ही संसारमें किसी वस्तु-व्यक्तिमें मनुष्यकी आसक्ति रहती है तो उसे पुनः लौटकर संसारमें आना पड़ता है। तात्पर्य है कि परिवर्तनशील शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध रखनेसे पीछे लौटकर आना पड़ता है और शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध न रखनेसे पीछे लौटकर नहीं आना पड़ता।**

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४॥

जिस मार्गमें प्रकाशस्वरूप अग्निका अधिपति देवता, दिनका अधिपति देवता, शुक्लपक्षका अधिपति देवता और छः महीनोंवाले उत्तरायणका अधिपति देवता है, उस मार्गसे शरीर छोड़कर गये हुए ब्रह्मवेत्ता पुरुष (पहले ब्रह्मलोकको प्राप्त होकर पीछे ब्रह्माके साथ) ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या— **पहले साधनावस्थामें जिनके भीतर ब्रह्मलोककी वासना अथवा अपने मतका आग्रह रहा है, वे क्रममुक्तिसे पहले ब्रह्मलोकमें जाते हैं और फिर महाप्रलय आनेपर ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जाते हैं।**

क्रममुक्तिमें ब्रह्मलोक मार्गमें आनेवाले एक स्टेशनकी तरह है, जहाँ भोगोंकी वासनावाले मनुष्य उतरते हैं। परन्तु जिनमें भोगोंकी वासना नहीं है, वे वहाँ नहीं उतरते। हमारा कोई प्रयोजन न हो तो मार्गमें स्टेशन आये या जंगल, क्या फर्क पड़ता है!

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥

जिस मार्गमें धूमका अधिपति देवता, रात्रिका अधिपति देवता, कृष्णपक्षका अधिपति देवता और छः महीनोंवाले दक्षिणायनका अधिपति देवता है, शरीर छोड़कर उस मार्गसे गया हुआ योगी (सकाम मनुष्य) चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर लौट आता है अर्थात् जन्म-मरणको प्राप्त होता है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

क्योंकि शुक्ल और कृष्ण—ये दोनों गतियाँ अनादिकालसे जगत् (प्राणिमात्र)-के साथ सम्बन्ध रखनेवाली मानी गयी हैं। इनमेंसे एक गतिमें जानेवालेको लौटना नहीं पड़ता और दूसरी गतिमें जानेवालेको पुनः लौटना पड़ता है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥

हे पृथानन्दन! इन दोनों मार्गोंको जाननेवाला कोई भी योगी मोहित नहीं होता। अत: हे अर्जुन! तू सब समयमें योगयुक्त (समतामें स्थित) हो जा।

व्याख्या— सकाम (भोग तथा संग्रहकी कामनावाला) मनुष्य ही मोहित होता अर्थात् जन्म-मरणमें जाता है। शुक्ल और कृष्णमार्गको जाननेवाला मनुष्य निष्काम (योगी) हो जाता है, इसलिये वह जन्म-मरणमें नहीं जाता अर्थात् कृष्णमार्गको प्राप्त नहीं होता।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

योगी (भक्त) इसको (इस अध्यायमें वर्णित विषयको) जानकर वेदोंमें, यज्ञोंमें, तपोंमें तथा दानमें जो-जो पुण्यफल कहे गये हैं, उन सभी पुण्यफलोंका अतिक्रमण कर जाता है और आदि-स्थान परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—पूर्वश्लोकमें शुक्ल और कृष्ण—दोनों गतियोंका उपसंहार करके अब भगवान् यहाँ पूरे अध्यायका उपसंहार करते हैं। वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, दान आदि जितने भी पुण्यकर्म हैं, उनका अधिक-से-अधिक फल ब्रह्मलोककी प्राप्ति होना है, जहाँसे पुनः लौटकर संसारमें आना पड़ता है, परन्तु भगवान्‌का आश्रय लेनेवाला भक्त उस ब्रह्मलोकका भी अतिक्रमण करके परमधामको प्राप्त हो जाता है, जहाँसे पुनः लौटकर संसारमें नहीं आना पड़ता।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ नवमोऽध्यायः

नवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—यह अत्यन्त गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञान दोषदृष्टि-रहित तेरे लिये तो मैं फिर अच्छी तरहसे कहूँगा, जिसको जानकर तू अशुभसे अर्थात् जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।

व्याख्या—कर्मयोग (निष्काम भाव) 'गुह्य' है, ज्ञानयोग (आत्मज्ञान) 'गुह्यतर' है और भक्तियोग (परमात्मज्ञान) 'गुह्यतम' है।

अपने स्वरूपको जानना 'ज्ञान' है और समग्र भगवान्‌को जानना 'विज्ञान' है। समग्र सगुण ही हो सकता है; क्योंकि निर्गुणके अन्तर्गत तो सगुण नहीं आ सकता, पर सगुणके अन्तर्गत निर्गुण भी आ जाता है।

सातवें अध्यायसे भगवान् विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन कर रहे थे, पर बीचमें अर्जुनके द्वारा सात प्रश्न कर दिये जानेसे भगवान्‌ने आठवें अध्यायमें उनका विस्तारसे उत्तर दिया। अब भगवान् अपनी ओरसे पुनः उस विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन आरम्भ करते हैं।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

यह (विज्ञानसहित ज्ञान अर्थात् समग्ररूप) सम्पूर्ण विद्याओंका राजा और सम्पूर्ण गोपनीयोंका राजा है। यह अति पवित्र तथा अति श्रेष्ठ है और इसका फल भी प्रत्यक्ष है। यह धर्ममय है, अविनाशी है और करनेमें बहुत सुगम है अर्थात् इसको प्राप्त करना बहुत सुगम है।

व्याख्या—**यह विज्ञानसहित ज्ञान करनेमें बहुत सुगम है; क्योंकि 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसे स्वीकारमात्र करना है। इसमें कोई परिश्रम अथवा अभ्यास नहीं है।**

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

हे परन्तप! इस धर्मकी महिमापर श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य मुझे प्राप्त न होकर मृत्युरूप संसारके मार्गमें लौटते रहते हैं अर्थात् बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं।

व्याख्या—पूर्वश्लोकमें कथित विज्ञानसहित ज्ञानकी महिमापर श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य इससे लाभ नहीं उठाते, प्रत्युत नाशवान् शरीर-संसारको महत्त्व देकर बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं। ऐसे अश्रद्धालु मनुष्य स्वतःप्राप्त अमरताका मार्ग छोड़कर मृत्युके मार्गपर चलते रहते हैं, जिसमें केवल मृत्यु-ही-मृत्यु है। मनुष्यशरीरमें भगवत्प्राप्तिका बहुत श्रेष्ठ अवसर था, पर वे उस मार्गको पकड़ लेते हैं, जिस मार्गसे कभी भगवत्प्राप्ति न हो सके। उनकी ऐसी दशाको देखकर भगवान् मानो दुःखके साथ कहते हैं—'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि'।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

यह सब संसार मेरे निराकार स्वरूपसे व्याप्त है। सम्पूर्ण प्राणी मुझमें स्थित हैं; परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ तथा वे प्राणी भी मुझमें स्थित नहीं हैं—मेरे इस ईश्वर-सम्बन्धी योग (सामर्थ्य)-को देख। सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला और प्राणियोंका धारण, भरण-पोषण करनेवाला मेरा स्वरूप उन प्राणियोंमें स्थित नहीं है।

व्याख्या— बर्फमें जलकी तरह संसारमें सत्ता ('है')-रूपसे एक सम, शान्त, सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है। उस अविभक्त सत्तामें मैं, तू, यह तथा वह—ये चार विभाग नहीं हैं।

जबतक साधकमें यह भाव है कि परमात्मा और संसार दो हैं, तबतक उसको यह समझना चाहिये कि परमात्मामें संसार है, संसारमें परमात्मा हैं। परन्तु जब दोका भाव न हो, तब न परमात्मामें संसार है, न संसारमें परमात्मा हैं। संसारको स्वतन्त्र सत्ता जीवने ही दी है। जबतक अहंता, ममता और कामना है, तबतक (साधककी दृष्टिमें) परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा हैं। परन्तु अहंता, ममता और कामना मिटनेपर (सिद्धकी दृष्टिमें) न परमात्मामें संसार है, न संसारमें परमात्मा हैं अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा हैं—'वासुदेवः सर्वम्'।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

जैसे सब जगह विचरनेवाली महान् वायु नित्य ही आकाशमें स्थित रहती है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी मुझमें ही स्थित रहते हैं—ऐसा तुम मान लो।

व्याख्या—जैसे वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही स्थित रहती है तथा आकाशमें ही लीन हो जाती है अर्थात् आकाशको छोड़कर वायुकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी भगवान्‌से ही उत्पन्न होते हैं, भगवान्‌में ही स्थित रहते हैं तथा भगवान्‌में ही लीन हो जाते हैं अर्थात् भगवान्‌को छोड़कर प्राणियोंकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं—इस बातको साधक दृढ़तासे स्वीकार कर ले तो उसे 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस वास्तविक तत्त्वका अनुभव हो जायगा।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

हे कुन्तीनन्दन! कल्पोंका क्षय होनेपर (महाप्रलयके समय) सम्पूर्ण प्राणी मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और कल्पोंके आदिमें (महासर्गके समय)मैं फिर उनकी रचना करता हूँ।

व्याख्या—पूर्वोक्त श्लोकमें वर्णित स्थिति न होनेपर मनुष्यकी क्या दशा होती है—इसे भगवान् इस श्लोकमें बताते हैं। महाप्रलयके समय प्रकृतिके परवश हुए सम्पूर्ण प्राणी अपने-अपने कर्मोंको लेकर भगवान्की प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। प्रकृतिमें लीन हुए उन प्राणियोंके कर्म जब परिपक्व होकर फल देनेके लिये उन्मुख हो जाते हैं, तब भगवान्में 'बहु स्यां प्रजायेय' 'मैं अनेक रूपोंमें प्रकट हो जाऊँ'(छान्दोग्य० ६। २। ३)—ऐसा संकल्प हो जाता है और महासर्गका आरम्भ हो जाता है। महासर्गके आदिमें भगवान् उन प्राणियोंके परिपक्व कर्मोंका फल देकर उन्हें शुद्ध करनेके लिये उनके शरीरोंकी रचना करते हैं।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥

प्रकृतिके वशमें होनेसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण प्राणिसमुदायको (कल्पोंके आदिमें) मैं अपनी प्रकृतिको वशमें करके बार-बार रचना करता हूँ।

व्याख्या— प्रकृति परमात्माकी एक अनिर्वचनीय अलौकिक विलक्षण शक्ति है। ऐसी अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके ही भगवान् सृष्टिकी रचना करते हैं। कारण कि सृष्टिमें जो परिवर्तन, उत्पत्ति-विनाश, आदि-अन्त होता है, वह सब प्रकृतिमें ही होता है, भगवान्‌में नहीं। इसलिये भगवान् क्रियाशील प्रकृतिको लेकर ही सृष्टिकी रचना करते हैं। इसमें भगवान्‌की कोई असमर्थता, पराधीनता, कमजोरी आदि नहीं है। भगवान्‌का प्रकृतिपर आधिपत्य होनेपर भी उनमें लिप्तता, कर्तृत्व आदि नहीं होते।

भगवान् उन्हीं प्राणियोंकी रचना करते हैं, जो प्रकृतिके परवश हैं अर्थात् जिन्होंने प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ रखा है।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९॥

हे धनंजय! उन (सृष्टि-रचना आदि) कर्मोंमें अनासक्त और उदासीनकी तरह रहते हुए मुझे वे कर्म नहीं बाँधते।

व्याख्या—**कर्मासक्ति, फलासक्ति और कर्तृत्वाभिमानके कारण मनुष्य कर्मोंसे बँध जाता है। परन्तु भगवान्‌में न तो कर्मासक्ति है, न फलासक्ति है और न कर्तृत्वाभिमान ही है, इसलिये वे सृष्टि-रचना आदि कर्मोंसे नहीं बँधते।**

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ १०॥

प्रकृति मेरी अध्यक्षतामें चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌की रचना करती है। हे कुन्तीनन्दन! इसी हेतुसे जगत्‌का (विविध प्रकारसे) परिवर्तन होता है।

व्याख्या—भगवान्‌से सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति चराचरसहित सम्पूर्ण प्राणियोंकी रचना करती है। तात्पर्य है कि सब क्रियाएँ प्रकृतिमें ही होती हैं, भगवान्‌में नहीं। प्रकृतिमें कितना ही परिवर्तन हो जाय, परमात्मा वैसे-के-वैसे ही रहते हैं। इसी प्रकार भगवान्‌का अंश जीव भी सदा निर्लिप्त, असंग रहता है। प्रकृति तो परमात्माके अधीन रहकर सृष्टिकी रचना करती है, पर जीव प्रकृतिके अधीन होकर जन्म-मरणके चक्रमें घूमता है। तात्पर्य है कि परमात्मा तो स्वतन्त्र हैं, पर उनका अंश जीवात्मा सुखकी इच्छासे परतन्त्र हो जाता है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११॥

मूर्खलोग मेरे सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वररूप श्रेष्ठभावको न जानते हुए मुझे मनुष्यशरीरके आश्रित मानकर अर्थात् साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवज्ञा करते हैं।

व्याख्या— भगवान्‌से बड़ा कोई ईश्वर नहीं है। वे सर्वोपरि हैं। परन्तु अज्ञानी मनुष्य उन्हें स्वरूपसे नहीं जानते। वे अलौकिक भगवान्‌को भी अपनी तरह लौकिक मानकर उनकी अवहेलना करते हैं और नाशवान् शरीर-संसारकी ही सत्ता मानकर भोग तथा संग्रहमें लगे रहते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२॥

जो आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिका ही आश्रय लेते हैं, ऐसे अविवेकी मनुष्योंकी सब आशाएँ व्यर्थ होती हैं, सब शुभकर्म व्यर्थ होते हैं और सब ज्ञान व्यर्थ होते हैं अर्थात् उनकी आशाएँ, कर्म और ज्ञान (समझ) सत्-फल देनेवाले नहीं होते।

व्याख्या—जो मनुष्य अपना स्वार्थ सिद्ध करनेमें लगे रहते हैं, दूसरोंके दुःखकी परवाह नहीं करते, वे 'आसुरी' स्वभाववाले होते हैं। जो स्वार्थसिद्धिमें बाधा लगनेपर क्रोधवश दूसरोंका नाश कर देते हैं, वे 'राक्षसी' स्वभाववाले होते हैं। जो बिना किसी कारणके दूसरोंको कष्ट पहुँचाते हैं, वे 'मोहिनी' स्वभाववाले होते हैं। आसुरी, राक्षसी और मोहिनी—तीनों ही स्वभाववाले मनुष्य आसुरी सम्पत्तिके अन्तर्गत आ जाते हैं, जो चौरासी लाख योनियों तथा नरकोंकी प्राप्ति करानेवाली है।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

परन्तु हे पृथानन्दन! दैवी प्रकृतिके आश्रित अनन्यमनवाले महात्मालोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अविनाशी समझकर मेरा भजन करते हैं।

व्याख्या— जो जिसके महत्त्वको जितना अधिक जानता है, वह उतना ही उसमें लग जाता है। जिन्होंने भगवान्‌को ही सर्वोपरि मान लिया है, वे दैवी स्वभाववाले महात्मा पुरुष भगवान्‌में ही लग जाते हैं। भोग तथा संग्रहकी तरफ उनकी वृत्ति कभी जाती ही नहीं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४॥

नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए मनुष्य दृढ़व्रती होकर लगनपूर्वक साधनमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक कीर्तन करते हुए तथा मुझे नमस्कार करते हुए निरन्तर मेरी उपासना करते हैं।

व्याख्या— **भक्त जो कुछ कहता है, वह सब भगवान्‌का ही कीर्तन होता है। वह जो कुछ क्रिया करता है, वह सब भगवान्‌की ही सेवा होती है। उसकी सम्पूर्ण लौकिक और पारमार्थिक क्रियाएँ केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होती हैं।**

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

दूसरे साधक ज्ञानयज्ञके द्वारा एकीभावसे (अभेदभावसे) मेरा पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं और दूसरे भी कई साधक (अपनेको) पृथक् मानकर चारों तरफ मुखवाले मेरे विराट्-रूपकी अर्थात् संसारको मेरा विराट्रूप मानकर सेव्य-सेवक भावसे मेरी अनेक प्रकारसे उपासना करते हैं।

व्याख्या— साधकोंकी रुचि, योग्यता और श्रद्धा-विश्वास अलग-अलग होनेके कारण उनके साधन भी अलग-अलग होते हैं। अलग-अलग साधनोंसे वे जिसकी भी उपासना करते हैं, वह भगवान्‌के समग्ररूपकी ही उपासना होती है। आगे सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक इसी समग्ररूपका वर्णन हुआ है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ १८॥

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषध मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं हूँ। जाननेयोग्य पवित्र ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। इस सम्पूर्ण जगत्का पिता, धाता, माता, पितामह, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, आश्रय, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, स्थान, निधान (भण्डार) तथा अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ।

व्याख्या— उपर्युक्त श्लोकोंको देखते हुए साधक यह बात दृढ़तासे स्वीकार कर ले कि कार्य-कारणरूपसे स्थूल-सूक्ष्मरूप जो कुछ देखने, सुनने, समझने और माननेमें

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

हे अर्जुन! (संसारके हितके लिये) मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, मैं ही जलको ग्रहण करता हूँ और (फिर उस जलको मैं ही) वर्षारूपसे बरसा देता हूँ। (और तो क्या कहूँ) अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ।

व्याख्या— जो देखने, सुनने, पढ़ने तथा कल्पना करनेमें आता है और जिन शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्के द्वारा देखा, सुना, पढ़ा, सोचा जाता है, वह सब-का-सब असत् (अपरा प्रकृति) है। परन्तु जो देखता, सुनता, पढ़ता, सोचता, जानता, मानता है, वह सत् (परा प्रकृति) है। भगवान् कहते हैं कि सत् भी मैं हूँ और असत् भी मैं हूँ।

जैसे अन्नकूटके प्रसादमें रसगुल्ले, गुलाबजामुन आदि भी होते हैं और मेथी, करेले आदिका साग भी होता है अर्थात् मीठा भी भगवान्‌का प्रसाद होता है और कड़वा भी। ऐसे ही अमृत भी भगवान् हैं और मृत्यु भी। सूर्यरूपसे जलको ग्रहण करना और फिर उसे बरसा देना— ये दोनों विपरीत कार्य (ग्रहण और त्याग) भी भगवान् ही करते हैं।

'सदसच्चाहम्' (सत् और असत् भी मैं ही हूँ)— इसमें विवेक नहीं है, प्रत्युत विश्वास है। विश्वास विवेकसे भी तेज होता है कारण कि विवेक वहीं काम करता है, जहाँ सत् और असत्—दोनोंका विचार होता है। जब असत् है ही नहीं तो फिर विवेक क्या करे? विवेकमें तो सत्-असत्‌का विभाग है, पर विश्वासमें विभाग है ही नहीं। विश्वासमें केवल सत्-ही-सत् अर्थात् भगवान्-ही-भगवान् हैं।

ज्ञानमार्गमें सत्-असत्‌का विवेक मुख्य होनेसे इसमें 'द्वैत' है, पर भक्तिमार्गमें एक भगवान्‌का ही विश्वास मुख्य होनेसे इसमें 'अद्वैत' है। तात्पर्य है कि दो सत्ता न होनेसे वास्तविक अद्वैत भक्तिमें ही है।

ज्ञानमार्गमें साधक असत्‌का निषेध करता है। निषेध करनेसे असत्‌की सत्ताका भाव बहुत समयतक बना रह सकता है। साधक असत्‌के निषेधपर जितना जोर लगाता है, उतना ही असत्‌की सत्ताका भाव दृढ़ होता है। अतः असत्‌का निषेध करना उतना बढ़िया नहीं है, जितना उसकी उपेक्षा करना बढ़िया है। उपेक्षा करनेकी अपेक्षा भी 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह भाव और भी बढ़िया है। अतः भक्त न असत्‌को हटाता है, न असत्‌की उपेक्षा करता है, प्रत्युत सत्-असत् सबमें भगवान्‌को ही देखता है।

अपनेसहित इस संसारमें जो कुछ दीखता है, वह भगवान्‌का स्वरूप है और इसमें जो क्रिया दीख रही है, वह भगवान्‌की लीला है। भगवान् और उनकी लीलाके सिवाय कुछ नहीं है। कोई जन्म गया, कोई मर गया, किसीका विवाह हो गया, किसीकी सन्तान हो गयी, कोई बीमार हो गया, कोई नीरोग हो गया, किसीका आदर हो गया, किसीका निरादर हो गया, किसीको नफा हो गया, किसीको घाटा लग गया, कोई धनवान् हो गया, कोई निर्धन हो गया—यह सब-की-सब भगवान्‌की लीला है। सर्ग-प्रलय भी उनकी लीला है और महासर्ग-महाप्रलय भी उनकी लीला है। वे कभी सत्ययुगकी लीला करते हैं, कभी त्रेतायुगकी लीला करते हैं, कभी द्वापरयुगकी लीला करते हैं और कभी कलियुगकी लीला करते हैं। इस प्रकार भगवान् और उनकी लीलाको देख-देखकर साधकको सदा आनन्दित रहना चाहिये।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा-
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ २०॥

तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम अनुष्ठानको करनेवाले और सोमरसको पीनेवाले जो पापरहित मनुष्य यज्ञोंके द्वारा (इन्द्ररूपसे) मेरा पूजन करके स्वर्गप्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं, वे (पुण्योंके फलस्वरूप) पवित्र इन्द्रलोकको प्राप्त करके वहाँ स्वर्गके देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं।

व्याख्या— **यहाँ ऐसे मनुष्योंका वर्णन है, जिनके भीतर संसारकी सत्ता और महत्ता बैठी हुई है और जो भगवान्‌की अविधिपूर्वक उपासना करते हैं (गीता ९। २३)। ऐसे मनुष्योंकी उपासनाका फल नाशवान् ही होता है (गीता ७। २३)।**

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं-
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना-
गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१॥

वे उस विशाल स्वर्गलोकके भोगोंको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें आ जाते हैं। इस प्रकार तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम धर्मका आश्रय लिये हुए भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्य आवागमनको प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—सकाम अनुष्ठान करनेवाले मनुष्यके जब स्वर्गके प्रतिबन्धक पाप नष्ट हो जाते हैं, तब वे स्वर्गमें चले जाते हैं। स्वर्गका सुख भोगते-भोगते जब उनके स्वर्गके प्रापक पुण्य नष्ट हो जाते हैं, तब वे पुनः मृत्युलोकमें आ जाते हैं। इस प्रकार कामनाके कारण मनुष्य आवागमनको प्राप्त होता रहता है, संसार-चक्रमें घूमता रहता है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए मेरी भलीभाँति उपासना करते हैं, मुझमें निरन्तर लगे हुए उन भक्तोंका योगक्षेम (अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा) मैं वहन करता हूँ।

व्याख्या—भगवान्‌के अनन्यभक्त न तो पूर्वश्लोकमें वर्णित इन्द्रको मानते हैं और न अगले श्लोकमें वर्णित अन्य देवताओंको मानते हैं। इन्द्रादिकी उपासना करनेवालोंको तो नाशवान् फल मिलता है, पर भगवान्‌की उपासना करनेवालोंको अविनाशी फल मिलता है। देवताओंका उपासक तो नौकरकी तरह है और भगवान्‌का उपासक घरके सदस्यकी तरह है। नौकर काम करता है तो उसे कामके अनुसार सीमित पैसे मिलते हैं, पर घरका सदस्य काम करे अथवा न करे, सब कुछ उसीका होता है। बालक क्या काम करता है?

भगवान् भक्तको उसके लिये आवश्यक साधन-सामग्री प्राप्त कराते हैं और प्राप्त सामग्रीकी रक्षा करते हैं—यही भगवान्‌का योगक्षेम वहन करना है। यद्यपि भगवान् सभी साधकोंका योगक्षेम वहन करते हैं, तथापि अपने अनन्यभक्तोंका योगक्षेम वे विशेषरूपसे वहन करते हैं; जैसे—प्यारे बच्चेका पालन माँ स्वयं करती है, नौकरोंसे नहीं करवाती।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥

हे कुन्तीनन्दन! जो भी भक्त (मनुष्य) श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंका पूजन करते हैं, वे भी मेरा ही पूजन करते हैं, पर करते हैं अविधिपूर्वक अर्थात् देवताओंको मुझसे अलग मानते हैं।

व्याख्या—'त्रैविद्या माम्' (९।२०), 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' (९। २२) और 'तेऽपि मामेव' (९। २३)—तीनों जगह भगवान्के द्वारा 'माम्' पद देनेका तात्पर्य है कि सब कुछ मैं ही हूँ, सब मेरा ही स्वरूप हैं। यदि साधकमें कामना न हो और सबमें भगवद्बुद्धि हो तो वह किसीकी भी उपासना करे, वह वास्तवमें भगवान्की ही उपासना होगी। तात्पर्य है कि यदि निष्कामभाव और भगवद्बुद्धि हो जाय तो उसका पूजन अविधिपूर्वक नहीं रहेगा, प्रत्युत वह भगवान्का ही पूजन हो जायगा।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परन्तु वे मुझे तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे उनका पतन होता है।

व्याख्या—**जब मनुष्य अपनेको भोगोंका भोक्ता और संग्रहका स्वामी मानकर उनका दास बन जाता है और भगवान्‌से सर्वथा विमुख हो जाता है, तब उसे यह बात याद ही नहीं रहती कि सबके भोक्ता और स्वामी भगवान् हैं। इस कारण उसका पतन हो जाता है। परन्तु जब उसे चेत हो जाता है कि वास्तवमें सम्पूर्ण भोगों और संग्रहोंके स्वामी भगवान् ही हैं, तब वह भगवान्‌के शरणागत हो जाता है। फिर उसका पतन नहीं होता।**

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

(सकामभावसे) देवताओंका पूजन करनेवाले (शरीर छोड़नेपर) देवताओंको प्राप्त होते हैं। पितरोंका पूजन करनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं। भूत-प्रेतोंका पूजन करनेवाले भूत-प्रेतोंको प्राप्त होते हैं। परन्तु मेरा पूजन करनेवाले मुझे ही प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—**वास्तवमें सब कुछ भगवान्‌का ही रूप है। परन्तु जो भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई भी स्वतन्त्र सत्ता मानता है, उसका उद्धार नहीं होता। वह ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें भी चला जाय तो भी उसे लौटकर संसारमें आना ही पड़ता है।**

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६॥

जो भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल आदि (यथासाध्य एवं अनायास प्राप्त वस्तु)-को प्रेमपूर्वक मेरे अर्पण करता है, उस मुझमें तल्लीन हुए अन्तःकरणवाले भक्तके द्वारा प्रेमपूर्वक दिये हुए उपहार (भेंट)-को मैं खा लेता हूँ अर्थात् स्वीकार कर लेता हूँ।

व्याख्या—देवताओंकी उपासनामें तो अनेक नियमोंका पालन करना पड़ता है; परन्तु भगवान्‌की उपासनामें कोई नियम नहीं है। भगवान्‌की उपासनामें प्रेमकी, अपनेपनकी प्रधानता है, विधिकी नहीं। भगवान् भावग्राही हैं, क्रियाग्राही नहीं।

जैसे भोला बालक जो कुछ हाथमें आये, उसको मुँहमें डाल लेता है, ऐसे ही भोले भक्त भगवान्‌को जो भी अर्पण करते हैं, उसे भगवान् भी भोले बनकर खा लेते हैं। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४। ११); जैसे—विदुरानीने केलेका छिलका दिया तो भगवान्‌ने उसे ही खा लिया!

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ भोजन करता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।

व्याख्या—ज्ञानयोगी तो संसारके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग करता है, पर भक्त एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता मानता ही नहीं। इसलिये ज्ञानयोगी पदार्थ तथा क्रियाका त्याग करता है, और भक्त पदार्थ तथा क्रियाको भगवान्‌के अर्पण करता है अर्थात् उनको अपना न मानकर भगवान्‌का और भगवत्स्वरूप मानता है। वास्तवमें भक्त अपने-आपको ही भगवान्‌के समर्पित कर देता है। स्वयं समर्पित होनेसे उसके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण लौकिक-पारमार्थिक क्रियाएँ भी स्वाभाविक भगवान्‌के समर्पित हो जाती हैं।

पूर्वपक्ष—यदि कोई निषिद्ध क्रिया करके उसे भगवान्‌के अर्पित कर दे तो?

उत्तरपक्ष— वही वस्तु या क्रिया भगवान्‌के अर्पित की जाती है, जो भगवान्‌के अनुकूल, उनके आज्ञानुसार होती है। जिस भक्तका भगवान्‌के प्रति अर्पण करनेका भाव है, उसके द्वारा न तो निषिद्ध क्रिया होगी और न निषिद्ध क्रिया अर्पित ही होगी। भगवान्‌को दिया हुआ अनन्त गुणा होकर मिलता है। यदि कोई निषिद्ध क्रिया भगवान्‌के अर्पित करेगा तो उसका फल भी दण्डरूपसे अनन्त गुणा होकर मिलेगा!

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

इस प्रकार (मेरे अर्पण करनेसे) कर्मबन्धनसे और शुभ (विहित) और अशुभ (निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे तू मुक्त हो जायगा। ऐसे अपने-सहित सब कुछ मेरे अर्पण करनेवाला और सबसे सर्वथा मुक्त हुआ तू मुझे प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या— 'कर्म' भी शुभ-अशुभ होते हैं और 'फल' भी। दूसरोंके हितके लिये करना 'शुभ-कर्म' है और अपने लिये करना 'अशुभ-कर्म' है। अनुकूल परिस्थिति 'शुभ फल' है और प्रतिकूल परिस्थिति 'अशुभ फल' है। भगवान्‌का भक्त शुभकर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करता है, अशुभकर्म करता नहीं और शुभ-अशुभ फलसे अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दुःखी नहीं होता। उसके अनन्त जन्मोंके संचित शुभाशुभ कर्म भस्म हो जाते हैं; जैसे—घासके ढेरमें जलता हुआ घासका टुकड़ा फेंकनेसे सब घास जल जाता है। भगवान्‌के अर्पण करनेसे संसारका सम्बन्ध (गुणसंग) नहीं रहता, प्रत्युत केवल भगवान्‌का सम्बन्ध रह जाता है, जो कि स्वतः पहलेसे ही है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ। (उन प्राणियोंमें) न तो कोई मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है। परन्तु जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ।

व्याख्या— मनुष्य भगवान्‌को अपनी वस्तुएँ तथा क्रियाएँ अर्पण करे अथवा न करे, भगवान्‌में कुछ फर्क नहीं पड़ता। वे तो सदा समान ही रहते हैं। किसी वर्णविशेष, आश्रमविशेष, जातिविशेष, कर्मविशेष, सम्प्रदायविशेष, योग्यताविशेष आदिका भी भगवान्‌पर कोई असर नहीं पड़ता। अतः प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिका मनुष्य उन्हें प्राप्त कर सकता है। भगवान् केवल आन्तरिक भावको ही ग्रहण करते हैं।

भगवान्‌की दृष्टिमें उनके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, फिर वे किससे द्वेष करें और किसमें राग करें? जीव ही राग-द्वेष करके संसारमें बँध जाता है और राग-द्वेषका त्याग करके मुक्त हो जाता है। इसलिये बन्धन और मुक्ति जीवकी ही होती है, भगवान्‌की नहीं। विषमता जीव करता है, भगवान् नहीं।

जो प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करते हैं, वे भगवान्‌में हैं और भगवान् उनमें हैं अर्थात् भगवान् उनमें विशेषरूपसे प्रकट हैं। तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वीमें जल सब जगह रहता है, पर कुएँमें विशेष प्रकट (आवरणरहित) होता है, ऐसे ही भगवान् संसारमात्रमें परिपूर्ण होते हुए भी भक्तोंमें विशेष प्रकट होते हैं। भक्त भगवान्‌से प्रेम करते हैं और भगवान् भक्तसे प्रेम करते हैं (गीता ७। १७)। इसलिये भक्त भगवान्‌में हैं और भगवान् भक्तोंमें हैं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥

अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभक्त होकर मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।

व्याख्या— ज्ञानयोग और कर्मयोगमें बुद्धिकी प्रधानता रहती है, इसलिये उनमें पहले बुद्धिमें समता आती है— 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' (गीता २। ३९)। बुद्धि स्थिर होनेसे मनुष्य 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है (गीता २। ५४—६८)। ज्ञानयोग और कर्मयोगमें बुद्धि व्यवसित (एक निश्चयवाली) होती है—'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' (गीता १८। ५१), 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह' (२। ४१), 'व्यवसायात्मिका बुद्धिः' (२। ४४)। बुद्धि व्यवसित होनेसे अहम्‌का सर्वथा नाश नहीं होता; क्योंकि अहम् बुद्धिसे परे है—'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं······ (गीता ७। ४)। अतः मुक्त होनेपर भी अहम्‌की सूक्ष्म गंध रह जाती है, जो बन्धनकारक तो नहीं होती, पर दार्शनिक मतभेद पैदा करनेवाली होती है। परन्तु भक्तियोगमें स्वयं (भगवान्‌के अंश)-की प्रधानता रहती है, इसलिये भक्त स्वयं व्यवसित होता है—'सम्यग्व्यवसितो हि सः'। स्वयं व्यवसित होनेसे अहम् सर्वथा नहीं रहता; क्योंकि स्वयं अहम्‌से परे है। मन-बुद्धिमें बैठी हुई बातकी विस्मृति हो सकती है, पर स्वयंमें बैठी हुई बातकी विस्मृति कभी नहीं हो सकती। स्वयंमें जो बात होती है, वह अखण्ड रहती है। इसलिये 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे अपने हैं'—यह स्वीकृति स्वयंमें होती है, मन-बुद्धिमें नहीं। कारण यह है कि मूलमें भगवान्‌का ही अंश होनेसे स्वयं भगवान्‌से अभिन्न है। भगवान्‌के सिवाय दूसरेके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही भूल है, मोह है, बन्धन है।

जबतक मनुष्यको अपनेमें कुछ बल, योग्यता, विशेषता दीखती है, तबतक वह 'अनन्यभाक्' नहीं होता। अनन्यभाक् तभी होता है, जब एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीका आश्रय नहीं रहता।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥

वह तत्काल (उसी क्षण) धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! मेरे भक्तका पतन नहीं होता—ऐसी तुम प्रतिज्ञा करो।

व्याख्या—जब मनुष्य सांसारिक दुःखोंसे घबरा जाता है और उन्हें मिटानेमें अपनी निर्बलताका अनुभव करता है, पर साथ-ही-साथ उसमें यह विश्वास रहता है कि सर्वसमर्थ भगवान्‌की कृपासे मेरी यह निर्बलता दूर हो सकती है और मैं सांसारिक दुःखोंसे छूट सकता हूँ, तब वह तत्काल भक्त हो जाता है।

भक्तका पतन नहीं होता; क्योंकि उसमें अपने बलका आश्रय नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌के ही बलका आश्रय होता है। वह साधननिष्ठ न होकर भगवन्निष्ठ होता है। इसलिये एक बार भक्त होनेके बाद फिर उसका पतन नहीं होता अर्थात् वह पुनः दुराचारी नहीं बनता। क्योंकि भक्तकी प्रतिज्ञा भगवान् भी टाल नहीं सकते। भक्ति भगवान्‌की कमजोरी है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥

हे पृथानन्दन! जो भी पापयोनिवाले हों तथा जो भी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरे शरण होकर निःसन्देह परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या—पूर्वजन्मके पापीकी अपेक्षा भी वर्तमान जन्मका पापी विशेष दोषी होता है। इसलिये पहले वर्तमान जन्मके पापी (सुदुराचारी)-की बात कहकर अब इस श्लोकमें 'पापयोनयः' पदसे पूर्वजन्मके पापीकी बात कहते हैं।

जिसमें दूसरेका आश्रय नहीं हो, ऐसे अनन्य आश्रयको यहाँ 'व्यपाश्रय' अर्थात् विशेष आश्रय कहा गया है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥

जो पवित्र आचरण करनेवाले ब्राह्मण और ऋषि-स्वरूप क्षत्रिय भगवान्‌के भक्त हों, (वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ) इसमें तो कहना ही क्या है! इसलिये इस अनित्य और सुखरहित शरीरको प्राप्त करके तू मेरा भजन कर।

व्याख्या— तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने भक्तिके तथा भगवत्प्राप्तिके सात अधिकारियोंके नाम लिये हैं—दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय। इन सातोंसे बाहर कोई भी प्राणी नहीं है। तात्पर्य है कि मनुष्यका कैसा ही जन्म हो, कैसी ही जाति हो और पूर्वजन्मके तथा इस जन्मके कितने ही पाप हों, पर वे सब-के-सब भगवान् और उनकी भक्तिके अधिकारी हैं। कारण कि जीवमात्र भगवान्‌का ही अंश होनेसे भगवान्‌की तरफ चलनेमें स्वतन्त्र है। भगवान्‌की ओरसे किसीके लिये भी मनाही नहीं है।

अनित्य और सुखरहित इस शरीरको पाकर अर्थात् हम जीते रहें और सुख भोगते रहें—ऐसी कामनाको छोड़कर भगवान्‌का भजन करना चाहिये। कारण कि संसारमें सुख है ही नहीं, केवल सुखका भ्रम है। ऐसे ही जीनेका भी भ्रम है। हम जी नहीं रहे हैं, प्रत्युत प्रतिक्षण मर रहे हैं!

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

तू मेरा भक्त हो जा, मुझमें मनवाला हो जा, मेरा पूजन करनेवाला हो जा और मुझे नमस्कार कर। इस प्रकार अपने-आपको मेरे साथ लगाकर मेरे परायण हुआ तू मुझे ही प्राप्त होगा।

व्याख्या—**इस श्लोकमें अहंता-परिवर्तनकी बात मुख्य है। भक्त 'मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ'—इस प्रकार अपनी अहंताको बदलता है और स्वयंका सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ता है। इसलिये उसे संसारके सम्बन्धका त्याग करना नहीं पड़ता, प्रत्युत वह स्वतः छूट जाता है। कारण कि वर्ण, आश्रम, जाति, योग्यता, अधिकार, कर्म, गुण आदि सब आगन्तुक हैं, पर स्वयंके साथ भगवान्‌का सम्बन्ध आगन्तुक नहीं है, प्रत्युत अनादि, नित्य और स्वतःसिद्ध है।**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ दशमोऽध्यायः

दसवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो अर्जुन! मेरे परम वचनको तुम फिर भी सुनो, जिसे मैं मुझमें अत्यन्त प्रेम रखनेवाले तुम्हारे लिये हितकी कामनासे कहूँगा।

व्याख्या— **अर्जुन भगवान्‌में अत्यन्त प्रेम रखनेवाले (भक्त) हैं; अतः भगवान् उनके लिये भक्ति-सम्बन्धी परम वचन पुनः कहते हैं।**

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

मेरे प्रकट होनेको न देवता जानते हैं और न महर्षि; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका आदि हूँ।

व्याख्या— परमात्मा जाननेका विषय नहीं हैं, प्रत्युत मानने और अनुभव करनेका विषय हैं। उन्हें माना ही जा सकता है, जाना नहीं जा सकता। जैसे, अपने माता-पिताको हम मान ही सकते हैं, जान नहीं सकते; क्योंकि जन्म लेते समय हमने उन्हें देखा ही नहीं, देखना सम्भव ही नहीं, माताकी अपेक्षा भी पिताको जानना सर्वथा असम्भव है; क्योंकि मातासे जन्म लेते समय तो हमारा शरीर बन चुका था, पर पितासे जन्म लेते समय हमारे शरीरकी सत्ता ही नहीं थी। भगवान् सम्पूर्ण संसारके पिता हैं—'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः' (गीता ९। १७), 'पितासि लोकस्य चराचरस्य' (गीता ११। ४३), 'अहं बीजप्रदः पिता' (गीता १४। ४) इसलिये परमात्माको जानना सर्वथा असम्भव है। उन्हें माना ही जा सकता है।

परमात्माको हम जान सकते ही नहीं और माने बिना रह सकते ही नहीं। जैसे, माता-पिताको माने बिना हम रह सकते ही नहीं। अगर हम अपनी (शरीरकी) सत्ता मानते हैं तो माता-पिताकी सत्ता माननी ही पड़ेगी। कार्य है तो उसका कारण भी है। ऐसे ही परमात्माको माने बिना हम रह सकते ही नहीं। अगर हम अपनी सत्ता (होनापन) मानते हैं तो परमात्माकी सत्ता माननी ही पड़ेगी। कारणके बिना कार्य कहाँसे आया? परमात्माके बिना हम स्वयं कहाँसे आये? हमारी सत्ता परमात्माके होनेमें प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसे 'हम नहीं हैं'—इस तरह अपने होनेपनका कोई निषेध या खण्डन नहीं कर सकता, ऐसे ही 'परमात्मा नहीं हैं'—इस तरह परमात्माके होनेपनका भी कोई निषेध या खण्डन नहीं कर सकता।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

जो मनुष्य मुझे अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर जानता है अर्थात् दृढ़तासे (सन्देह-रहित) स्वीकार कर लेता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् है और वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।

व्याख्या—महर्षिगण भगवान्के आदिको तो नहीं जान सकते, पर वे भगवान्को अज-अनादि तो जानते ही हैं। भगवान्का अंश होनेसे जीव स्वयं भी अज-अनादि है। अतः वह जैसे भगवान्को अज-अनादि जानता है, वैसे ही अपनेको भी अज-अनादि जानता है। कारण कि जैसे संसारसे अलग होकर ही संसारको जान सकते हैं; क्योंकि वास्तवमें हम संसारसे अलग ही हैं, ऐसे ही भगवान्से अभिन्न होकर ही भगवान्को जान सकते हैं; क्योंकि वास्तवमें हम भगवान्से अभिन्न ही हैं। अपनेको अज-अनादि जाननेपर जीव मूढ़तारहित हो जाता है, फिर उसमें पाप कैसे रहेंगे? क्योंकि पाप तो पीछे पैदा हुए हैं, अज-अनादि पहलेसे हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम तथा सुख, दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय, अभय और अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश और अपयश—प्राणियोंके ये अनेक प्रकारके अलग-अलग (बीस) भाव मुझसे ही होते हैं।

व्याख्या—ज्ञानकी दृष्टिसे तो सभी भाव प्रकृतिसे होते हैं, पर भक्तिकी दृष्टिसे सभी भाव भगवान्से तथा भगवत्स्वरूप होते हैं। अगर इन भावोंको जीवका मानें तो जीव भी भगवान्की ही परा प्रकृति होनेसे भगवान्से अभिन्न है। अतः ये भाव भगवान्के ही हुए। भगवान्में तो ये भाव निरन्तर रहते हैं पर जीवमें अपरा प्रकृतिके संगसे आते-जाते रहते हैं। भगवान्से उत्पन्न होनेके कारण सभी भाव भगवत्स्वरूप ही हैं।

जैसे हाथ एक ही होता है, पर उसमें अँगुलियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं,ऐसे ही भगवान् एक ही हैं, पर उनसे प्रकट होनेवाले भाव भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

सात महर्षि और उनसे भी पहले होनेवाले चार सनकादि तथा चौदह मनु—ये सब-के-सब मेरे मनसे पैदा हुए हैं और मुझमें भाव (श्रद्धा-भक्ति) रखनेवाले हैं, जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है।

व्याख्या—सात महर्षि, चार सनकादि तथा चौदह मनु—ये सब भगवान्‌के मनसे प्रकट होनेके कारण भगवान्‌से अभिन्न अर्थात् भगवत्स्वरूप हैं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

जो मनुष्य मेरी इस विभूतिको और योग (सामर्थ्य)-को तत्त्वसे जानता है अर्थात् दृढ़तापूर्वक (सन्देहरहित) स्वीकार कर लेता है, वह अविचल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है; इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

व्याख्या—**संसारमें जो कुछ विलक्षणता, विशेषता देखनेमें आती है, वह सब भगवान्‌का 'योग' (विलक्षण प्रभाव, सामर्थ्य) है। उस योगसे प्रकट होनेवाली विशेषता 'विभूति' है—इस प्रकार जो मनुष्य भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जान लेता है कि जो कुछ प्रभाव, महत्त्व दीखता है, वह सब भगवान्‌का ही है, तब उसकी भगवान्‌में ही दृढ़ भक्ति हो जाती है।**

एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं—ऐसा सन्देहरहित दृढ़तापूर्वक मान लेना ही वास्तवमें भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

मैं संसारमात्रका प्रभव (मूल कारण) हूँ और मुझसे सारा संसार प्रवृत्त हो रहा है अर्थात् चेष्टा कर रहा है—ऐसा मानकर मुझमें ही श्रद्धा-प्रेम रखते हुए बुद्धिमान् भक्त मेरा ही भजन करते हैं—सब प्रकारसे मेरे ही शरण होते हैं।

व्याख्या—**पदार्थ और व्यक्ति भी भगवान्‌से होते हैं** (अहं सर्वस्य प्रभवः) **और क्रियाएँ भी भगवान्‌से ही होती हैं** (मत्तः सर्वं प्रवर्तते)। **परन्तु जीव पदार्थों, व्यक्तियों और क्रियाओंसे सम्बन्ध जोड़कर, उनको अपना मानकर, उनका भोक्ता और कर्त्ता बनकर बन्धनमें पड़ जाता है। जो मनुष्य पदार्थों, व्यक्तियों और क्रियाओंसे सम्बन्ध न जोड़कर भगवान्‌के महत्त्व (प्रभाव)-को मान लेते हैं, वे संसारमें न फँसकर भगवान्‌के ही भजनमें लग जाते हैं।**

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

मुझमें चित्तवाले तथा मुझमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले (भक्तजन) आपसमें (मेरे गुण, प्रभाव आदिको) जनाते हुए और उनका कथन करते हुए नित्य-निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और मुझमें ही प्रेम करते हैं।

व्याख्या—भक्तोंका चित्त भगवान्को छोड़कर कहीं जाता ही नहीं। उनकी दृष्टिमें जब एक भगवान्के सिवाय और कुछ है ही नहीं तो फिर उनका चित्त कहाँ जाय, कैसे जाय और क्यों जाय? वे भगवान्के लिये ही जीते हैं। उनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ भगवान्के लिये ही होती हैं। कोई सुननेवाला आ जाय तो वे भगवान्के गुण, प्रभाव आदिकी विलक्षण बातोंका ज्ञान कराते हैं, भगवान्की लीला-कथाका वर्णन करते हैं, और कोई सुनानेवाला आ जाय तो प्रेमपूर्वक सुनते हैं। न तो कहनेवाला तृप्त होता है, न सुननेवाला। तृप्ति नहीं होती—यह वियोग है और नित्य नया रस मिलता है—यह योग है। इस वियोग और योगके कारण प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥

उन नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है।

व्याख्या— भगवन्निष्ठ भक्त भगवान्‌को छोड़कर न तो समता चाहते हैं, न तत्त्वज्ञान चाहते हैं, न मोक्ष चाहते हैं तथा न और ही कुछ चाहते हैं। उनका तो एक ही काम है—नित्य-निरन्तर भगवान्‌में लगे रहना। इसलिये उन भक्तोंकी सारी जिम्मेदारी भगवान्‌पर आ जाती है। उन भक्तोंमें कोई कमी न रह जाय, इस दृष्टिसे भगवान् अपनी तरफसे उनको समता (कर्मयोग) और तत्त्वज्ञान (ज्ञानयोग)—दोनों दे देते हैं (गीता १०। ११)।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूप (होनेपन)-में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

व्याख्या—**यद्यपि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है, तथापि भगवान् अपने भक्तोंको कर्मयोग भी दे देते हैं**—'ददामि बुद्धियोगं तम्' **और ज्ञानयोग भी दे देते हैं**—'ज्ञानदीपेन भास्वता'। **अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की ही हैं। इसलिये भगवान् कृपा करके अपने भक्तको अपराकी प्रधानतासे होनेवाला कर्मयोग और पराकी प्रधानतासे होनेवाला ज्ञानयोग—दोनों प्रदान करते हैं। अतः भक्तको कर्मयोगका प्रापणीय तत्त्व 'निष्काम भाव' और ज्ञानयोगका प्रापणीय तत्त्व 'स्वरूपबोध'—दोनों ही सुगमतासे प्राप्त हो जाते हैं। कर्मयोग प्राप्त होनेपर भक्तके द्वारा संसारका उपकार होता है और ज्ञानयोग प्राप्त होनेपर भक्तका देहाभिमान दूर हो जाता है।**

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

अर्जुन बोले—परम ब्रह्म, परम धाम और महान् पवित्र आप ही हैं। आप शाश्वत, दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापक हैं—ऐसा आपको सब-के-सब ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल तथा व्यास कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।

व्याख्या— **निर्गुण-निराकारके लिये** 'परं ब्रह्म', **सगुण-निराकारके लिये** 'परं धाम' **और सगुण-साकारके लिये** 'पवित्रं परमं भवान्' **पदोंका प्रयोग करके अर्जुन भगवान्से मानो यह कहते हैं कि समग्र परमात्मा आप ही हैं।**

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४॥

हे केशव! मुझसे आप जो कुछ कह रहे हैं, यह सब मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके प्रकट होनेको न तो देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं।

व्याख्या— भगवान्‌को अपनी शक्तिसे कोई नहीं जान सकता, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे ही जान सकता है। भगवान्‌के यहाँ बुद्धिके चमत्कार अथवा विविध प्रकारकी सिद्धियाँ नहीं चल सकतीं। बड़े-से-बड़े भौतिक आविष्कारसे कोई भगवान्‌को नहीं जान सकता। देवताओंकी दिव्यशक्ति तथा दानवोंकी मायाशक्ति कितनी ही विलक्षण होनेपर भी भगवान्‌के सामने कुण्ठित हो जाती है।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

[1546] गी० प्र० १०

हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देवदेव! हे जगत्पते! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं।

व्याख्या—**आप स्वयं ही स्वयंके ज्ञाता हैं—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि जाननेवाले भी आप ही हैं, जाननेमें आनेवाले भी आप ही हैं और जानना भी आप ही हैं अर्थात् सब कुछ आप ही हैं। जब आपके सिवाय और कोई है ही नहीं तो फिर कौन किसको जाने? और क्या जाने?**

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

इसलिये जिन विभूतियोंसे आप इन सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं, उन सभी अपनी दिव्य विभूतियोंका सम्पूर्णतासे वर्णन करनेमें आप ही समर्थ हैं।

व्याख्या—अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं कि आप स्वयं ही अपने-आपको जानते हैं, इसलिये अपनी सम्पूर्ण विभूतियोंका वर्णन आप ही कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं। अतः आप अपनी विलक्षण विभूतियोंको विस्तारपूर्वक सम्पूर्णतासे कहिये, जिससे मेरी आपमें अविचल भक्ति हो जाय।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

हे योगिन्! निरन्तर सांगोपांग चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ? और हे भगवन्! किन-किन भावोंमें आप मेरे द्वारा चिन्तन किये जा सकते हैं अर्थात् किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ?

व्याख्या— अर्जुनने यह प्रश्न सुगमतापूर्वक भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किया है कि मैं आपके समग्ररूपको कैसे जानूँ? किन रूपोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ? इससे सिद्ध होता है कि विभूतियाँ गौण नहीं हैं, प्रत्युत भगवत्प्राप्तिका माध्यम होनेसे मुख्य हैं। विभूतिरूपसे साक्षात् भगवान् ही हैं। जबतक मनुष्य भगवान्‌को नहीं जानता, तबतक उसमें गौण अथवा मुख्यकी भावना रहती है। भगवान्‌को जाननेपर गौण अथवा मुख्यकी भावना नहीं रहती; क्योंकि भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं, फिर उसमें क्या गौण और क्या मुख्य? तात्पर्य है कि गौण अथवा मुख्य साधककी दृष्टिमें है, सिद्धकी दृष्टिमें नहीं।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

हे जनार्दन! आप अपने योग (सामर्थ्य)-को और विभूतियोंको विस्तारसे फिर कहिये; क्योंकि आपके अमृतमय वचन सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है।

व्याख्या— जैसे भूखेको अन्न और प्यासेको जल प्रिय लगता है, ऐसे ही भक्त अर्जुनको भगवान्‌के वचन बहुत प्रिय और विलक्षण लग रहे हैं। वे ज्यों-ज्यों भगवान्‌के वचन सुनते हैं, त्यों-ही-त्यों उनका भगवान्‌के प्रति विशेष भाव प्रकट होता जाता है। कानोंके द्वारा उन अमृतमय वचनोंको सुनते हुए न तो उन वचनोंका अन्त आता है और न उनको सुनते हुए तृप्ति ही होती है!

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

श्रीभगवान् बोले—हाँ, ठीक है। मैं अपनी दिव्य विभूतियोंको तेरे लिये प्रधानतासे (संक्षेपसे) कहूँगा; क्योंकि हे कुरुश्रेष्ठ! मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है।

व्याख्या—भगवान् अनन्त हैं; अतः उनकी विभूतियाँ भी अनन्त हैं। इस कारण भगवान्‌की सम्पूर्ण विभूतियोंको न तो कोई कह सकता है और न सुन ही सकता है। अगर कोई कह-सुन ले तो फिर वे अनन्त कैसे रहेंगी? इसलिये भगवान् यहाँ और अध्यायके अन्तमें भी कहते हैं कि मैं अपनी विभूतियोंको संक्षेपसे कहूँगा; क्योंकि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है (गीता १०। ४०)।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ और सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरण (हृदय)-में स्थित आत्मा भी मैं ही हूँ।

व्याख्या— **सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें भगवान् ही हैं—इसका तात्पर्य यह है कि एक भगवान्के सिवाय और कुछ है ही नहीं अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और आत्मा उनकी विभूति है। आत्मा भगवान्की परा प्रकृति है और अन्तःकरण अपरा प्रकृति है (गीता ७। ४-५)। परा और अपरा—दोनों ही भगवान्से अभिन्न हैं।**

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥

मैं अदितिके पुत्रोंमें विष्णु (वामन) और प्रकाशमान वस्तुओंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ। मैं मरुतोंका तेज और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ २२॥

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवताओंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और प्राणियोंकी चेतना हूँ।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ २३॥

रुद्रोंमें शंकर और यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर मैं हूँ। वसुओंमें पवित्र करनेवाली अग्नि और शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु मैं हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

हे पार्थ! पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पतिको मेरा स्वरूप समझो। सेनापतियोंमें कार्तिकेय और जलाशयोंमें समुद्र मैं हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

महर्षियोंमें भृगु और वाणियों (शब्दों)-में एक अक्षर अर्थात् प्रणव मैं हूँ। सम्पूर्ण यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय मैं हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

सम्पूर्ण वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि मैं हूँ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥

घोड़ोंमें अमृतके साथ समुद्रसे प्रकट होनेवाले उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेको, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथीको और मनुष्योंमें राजाको मेरी विभूति मानो।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः। २८।

आयुधोंमें वज्र और धेनुओंमें कामधेनु मैं हूँ। सन्तान-उत्पत्तिका हेतु कामदेव मैं हूँ और सर्पोंमें वासुकि मैं हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

नागोंमें अनन्त (शेषनाग) और जल-जन्तुओंका अधिपति वरुण मैं हूँ। पितरोंमें अर्यमा और शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

दैत्योंमें प्रह्लाद और गणना करनेवालों (ज्योतिषियों)-में काल मैं हूँ तथा पशुओंमें सिंह और पक्षियोंमें गरुड़ मैं हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें राम मैं हूँ। जल-जन्तुओंमें मगर मैं हूँ और नदियोंमें गंगाजी मैं हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥

हे अर्जुन! सम्पूर्ण सृष्टियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ। विद्याओंमें अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) और परस्पर शास्त्रार्थ करनेवालोंका (तत्त्व-निर्णयके लिये किया जानेवाला) वाद मैं हूँ।

व्याख्या—इसी अध्यायके बीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च' कहकर व्यष्टिरूपसे अपनी विभूति बतायी थी, अब यहाँ 'सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन' कहकर समष्टिरूपसे अपनी विभूति बताते हैं। तात्पर्य है कि व्यष्टि अथवा समष्टिरूपसे जो कुछ दीखने, सुनने, चिन्तन करने आदिमें आता है, वह सब एक भगवान् ही हैं।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥

अक्षरोंमें अकार और समासोंमें द्वन्द्व समास मैं हूँ। अक्षयकाल अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला धाता (सबका पालन-पोषण करनेवाला भी) मैं ही हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ ३४॥

सबका हरण करनेवाली मृत्यु और भविष्यमें उत्पन्न होनेवाला मैं हूँ तथा स्त्री-जातिमें कीर्ति, श्री, वाक् (वाणी), स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥

गायी जानेवाली श्रुतियोंमें बृहत्साम और सब छन्दोंमें गायत्री छन्द मैं हूँ। बारह महीनोंमें मार्गशीर्ष और छः ऋतुओंमें वसन्त मैं हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

छल करनेवालोंमें जूआ और तेजस्वियोंमें तेज मैं हूँ। (जीतनेवालोंकी) विजय मैं हूँ। (निश्चय करनेवालोंका) निश्चय और सात्त्विक मनुष्योंका सात्त्विक भाव मैं हूँ।

व्याख्या— पूर्वपक्ष— भगवान्‌ने जूएको अपनी विभूति बताया है, फिर जूआ खेलनेमें क्या दोष है? यदि दोष नहीं है तो शास्त्रोंने इसका निषेध क्यों किया है?

उत्तरपक्ष— यदि किसी ग्रंथके किसी अंशपर शंका उत्पन्न हो तो उस ग्रन्थका आदिसे अन्ततक अध्ययन करके उसमें वक्ताके उद्देश्य, लक्ष्य और आशयको समझनेसे उस शंकाकी निवृत्ति हो जाती है। यहाँ शास्त्रोंके विधि-निषेधका प्रसंग नहीं चल रहा है, प्रत्युत भगवान्‌की विभूतियोंका प्रसंग चल रहा है। 'मैं आपका चिन्तन कहाँ-कहाँ करूँ'—अर्जुनके इस प्रश्नके अनुसार भगवान् अपनी विभूतियोंके रूपमें अपने चिन्तनकी बात ही बता रहे हैं। भगवान्‌ने तो सिंहको तथा मृत्युको भी अपनी विभूति बताया है (१०। ३०,३४)। इसका अर्थ यह थोड़े ही है कि मनुष्य इनका सेवन करे!

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

वृष्णिवंशियोंमें वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण और पाण्डवोंमें अर्जुन मैं हूँ। मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें कवि शुक्राचार्य भी मैं हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

दमन करनेवालोंमें दण्डनीति और विजय चाहनेवालोंमें नीति मैं हूँ। गोपनीय भावोंमें मौन मैं हूँ और ज्ञानवानोंमें ज्ञान मैं ही हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥

और हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज (मूल कारण) है, वह बीज भी मैं ही हूँ; क्योंकि वह चर-अचर कोई प्राणी नहीं है, जो मेरे बिना हो अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।

व्याख्या— संसारमें जो कुछ भी विशेषता दीखती है, उसको संसारकी माननेसे मनुष्य उसमें फँस जाता है, जिससे उसका पतन हो जाता है। इसलिये भगवान् यहाँ बहुत ही सरल साधन बताते हैं कि तुम्हारा मन जहाँ-कहीं और जिस-किसी विशेषताको देखकर आकृष्ट होता हो, वहाँ उस विशेषताको तुम मेरी ही समझो कि यह विशेषता भगवान्‌की है और भगवान्‌से ही आयी है। यह विशेषता इस परिवर्तनशील, जड़, नाशवान् संसारकी नहीं है। ऐसा समझनेसे तुम्हारा आकर्षण उस वस्तु-व्यक्तिमें न होकर मेरेमें ही होगा, जिससे तुम्हारा मुझमें प्रेम हो जायगा।

चौरासी लाख योनियाँ तथा उनके सिवाय देवता, पितर, गन्धर्व, भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, पूतना, बालग्रह आदि जितनी भी योनियाँ हैं, उन सबके मूल कारण भगवान् हैं। तात्पर्य है कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त जीव हैं, पर उन सबका बीज एक ही है। लौकिक बीजसे तो एक ही प्रकारकी खेती पैदा होती है; जैसे— गेहूँके बीजसे गेहूँ ही पैदा होता है, अन्य अनाज नहीं। सबके बीज अलग-अलग होते हैं। परन्तु भगवान्-रूपी बीज इतना विलक्षण है कि उस एक ही बीजसे अनन्त ब्रह्माण्डके अनन्त जीव पैदा हो जाते हैं। सब प्रकारके जीव पैदा होनेपर भी उसमें कभी कोई विकृति नहीं आती, वह ज्यों-का-त्यों रहता है; क्योंकि वह बीज अव्यय और सनातन है (गीता ७। १०, ९। १८)।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

हे परन्तप अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। मैंने (तुम्हारे सामने अपनी) विभूतियोंका जो विस्तार कहा है, यह तो केवल संक्षेपसे नाममात्र कहा है।

व्याख्या—सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार तथा मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, भूत, प्रेत, पिशाच आदि जो कुछ भी है, वह सब मिलकर भगवान्‌का ही समग्ररूप है अर्थात् सब भगवान्‌की ही विभूतियाँ हैं, उनका ही ऐश्वर्य है। तात्पर्य है कि एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। परिवर्तनशील असत् और अपरिवर्तनशील सत्—दोनों ही भगवान्‌की विभूतियाँ हैं—'सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९। १९)। अतः जिसमें हमारा आकर्षण होता है, वह वास्तवमें भगवान्‌का ही आकर्षण है। परन्तु भोगबुद्धिके कारण वह आकर्षण भगवत्प्रेममें परिणत न होकर काम, आसक्ति, मोहमें परिणत हो जाता है, जो संसारमें बाँधनेवाला है।

पूर्वपक्ष—जब सब कुछ भगवान् ही हैं, तो फिर विभूति-वर्णनका क्या प्रयोजन है?

उत्तरपक्ष—अर्जुनका प्रश्न ही यही था कि मैं कहाँ-कहाँ आपका चिन्तन करूँ? यद्यपि सब कुछ भगवान् ही हैं, तथापि मनुष्यको जिस वस्तु-व्यक्तिमें विशेषता दीखती है, उस वस्तु-व्यक्तिमें भगवान्‌को देखना, उनका चिन्तन करना सुगम पड़ता है। कारण कि मनमें उसकी विशेषता अंकित हो जानेसे मन स्वतः वहाँ जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियोंका वर्णन किया है। इस कारण साधकका कहीं भी राग-द्वेष न होकर भगवान्‌की तरफ ही दृष्टि रहनी चाहिये।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ ४१॥

जो-जो भी ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त और बलयुक्त प्राणी तथा पदार्थ है, उस-उसको तुम मेरे ही तेज (योग अर्थात् सामर्थ्य)-के अंशसे उत्पन्न हुआ समझो।

व्याख्या— संसारकी सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध ही मनुष्यको बाँधनेवाला है। इसलिये पहले कही गयी विभूतियोंके सिवाय भी साधकको स्वतः जिस-जिसमें व्यक्तिगत आकर्षण दीखता हो, वहाँ-वहाँ वह भगवान्‌की ही विशेषता देखे। इससे वहाँ उसकी भोगबुद्धि न होकर भगवद्‌बुद्धि हो जायगी तो उसके अन्तःकरणमें भगवान्‌की सत्ता, महत्ता और उनसे सम्बन्ध हो जायगा।

मनुष्यमें जो भी विशेषता आती है, वह सब भगवान्‌से ही आती है। अगर भगवान्‌में विशेषता न होती तो वह मनुष्यमें कैसे आती? जो वस्तु अंशीमें नहीं है, वह अंशमें कैसे आ सकती है? जो विशेषता बीजमें नहीं है, वह वृक्षमें कैसे आयेगी? उन्हीं भगवान्‌की कवित्व-शक्ति कविमें आती है, उन्हींकी वक्तृत्व-शक्ति वक्तामें आती है; उन्हींकी लेखन-शक्ति लेखकमें आती है, उन्हींकी दातृत्व-शक्ति दातामें आती है। जिनसे मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि मिले हैं, उनकी तरफ दृष्टि न जानेसे ही ऐसा दीखता है कि मुक्ति मेरी है, ज्ञान मेरा है, प्रेम मेरा है। यह तो देनेवाले भगवान्‌की विशेषता है कि सब कुछ देकर भी वे अपनेको प्रकट नहीं करते, जिससे लेनेवालेको वह वस्तु अपनी ही मालूम देती है। मनुष्यसे यह बड़ी भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तुको तो अपनी मान लेता है, पर जहाँसे वह मिली है, उसको अपना नहीं मानता!

परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियों, कलाओं, विद्याओं आदिके विलक्षण भण्डार हैं। शक्ति जड़ प्रकृतिमें नहीं रह सकती, प्रत्युत चिन्मय परमात्मतत्त्वमें ही रह सकती है। जिस ज्ञानसे क्रिया हो रही है, वह ज्ञान जड़में कैसे रह सकता है? अगर ऐसा मानें कि सब शक्तियाँ प्रकृतिमें ही हैं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि उन शक्तियोंके प्राकट्य और उपयोग (सृष्टि-रचना) आदि करनेकी योग्यता प्रकृतिमें नहीं है। जैसे, कम्प्यूटर जड़ होते हुए भी अनेक चमत्कारिक कार्य करता है, परन्तु चेतन (मनुष्य)-के द्वारा निर्मित, शिक्षित तथा संचालित हुए बिना वह कार्य नहीं कर सकता। कम्प्यूटर स्वतःसिद्ध नहीं है, प्रत्युत कृत्रिम (बनाया हुआ) है; परन्तु परमात्मा स्वतःसिद्ध हैं।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

अथवा हे अर्जुन! तुम्हें इस प्रकार बहुत-सी बातें जाननेकी क्या आवश्यकता है, जबकि मैं अपने किसी एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हूँ अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्ड मेरे किसी एक अंशमें हैं।

व्याख्या—**भगवान् अपनी तरफ दृष्टि कराते हैं कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें सब कुछ मैं ही तो हूँ! मेरी तरफ देखनेसे फिर कोई भी विभूति बाकी नहीं रहेगी। जब सम्पूर्ण विभूतियोंका आधार, आश्रय, प्रकाशक, बीज (मूल कारण) मैं तेरे सामने बैठा हूँ, तो फिर विभूतियोंका चिन्तन करनेकी क्या जरूरत?**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथैकादशोऽध्यायः

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥

अर्जुन बोले—केवल मुझपर कृपा करनेके लिये आपने जो परमगोपनीय अध्यात्म-विषयक वचन कहे, उससे मेरा यह मोह नष्ट हो गया है।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

क्योंकि हे कमलनयन! सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति तथा विनाश मैंने विस्तारपूर्वक आपसे ही सुने हैं और आपका अविनाशी माहात्म्य भी सुना है।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥

हे पुरुषोत्तम! आप अपने-आपको जैसा कहते हैं, यह (वास्तवमें) ऐसा ही है। हे परमेश्वर! आपके ईश्वर-सम्बन्धी रूपको मैं देखना चाहता हूँ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

हे प्रभो! मेरे द्वारा आपका वह ऐश्वररूप देखा जा सकता है—ऐसा अगर आप मानते हैं तो हे योगेश्वर! आप अपने उस अविनाशी स्वरूपको मुझे दिखा दीजिये।

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन! अब मेरे अनेक तरहके और अनेक वर्णों (रंगों) तथा आकृतियोंवाले सैकड़ों-हजारों अलौकिक रूपोंको तू देख।

व्याख्या—उपदेश दो प्रकारसे दिया जाता है—कहकर और दिखाकर। पहले दसवें अध्यायमें भगवान्ने अपने समग्ररूपका वर्णन किया कि मैं अपने एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हूँ। अब इस अध्यायमें भगवान् अर्जुनके द्वारा प्रार्थना करनेपर उसी रूपको प्रत्यक्ष दिखाते हैं।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! बारह आदित्योंको, आठ वसुओंको, ग्यारह रुद्रोंको और दो अश्विनी-कुमारोंको तथा उन्चास मरुद्गणोंको देख। जिनको तूने पहले कभी देखा नहीं, ऐसे बहुत-से आश्चर्यजनक रूपोंको भी तू देख।

व्याख्या—**बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार—ये तैंतीस कोटि (तैंतीस प्रकारके) देवता सम्पूर्ण देवताओंमें मुख्य हैं। ये सब देवता भगवान्‌के समग्ररूपके अन्तर्गत हैं।**

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥

हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन! मेरे इस शरीरके एक देशमें चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌को अभी देख ले। इसके सिवाय तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी देख ले।

व्याख्या—भगवान् अपने शरीरके किसी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् देखनेकी आज्ञा देते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और उनके एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् (अनन्त ब्रह्माण्ड) है। जब सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌के किसी एक अंशमें है, तो फिर भगवान्‌के सिवाय क्या शेष रहा? सब कुछ भगवान् ही हुए!

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

परन्तु तू इस अपनी आँख (चर्मचक्षु)-से मुझे देख ही नहीं सकता, इसलिये मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ, जिससे तू मेरी ईश्वरीय सामर्थ्यको देख।

व्याख्या—'पश्य' क्रियाके दो अर्थ होते हैं—जानना और देखना। पहले (गीता ९।५में) 'पश्य मे योगमैश्वरम्' पदोंसे भगवान्‌को जाननेकी बात आयी है और यहाँ इन पदोंसे देखनेकी बात आयी है। तात्पर्य यह हुआ कि जो जाननेमें आता है, वह भी भगवान् हैं और जो देखनेमें आता है, वह भी भगवान् हैं। इतना ही नहीं, जानने और देखनेके सिवाय भी जो कुछ है, वह भगवान् ही हैं—'सदसत्तत्परं यत्' (गीता ११।३७)।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥

संजय बोले—हे राजन्! ऐसा कहकर फिर महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको परम ऐश्वर विराट्‌रूप दिखाया।

व्याख्या—भगवान्‌को 'महायोगेश्वर' कहनेका तात्पर्य है कि भगवान् सम्पूर्ण योगोंके ईश्वर हैं। ऐसा कोई भी योग नहीं है, जिसके ईश्वर (स्वामी) भगवान् न हों। सब योग भगवान्‌के ही अन्तर्गत हैं।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ १०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ ११॥

'जिनके अनेक मुख और नेत्र हैं, अनेक तरहके अद्भुत दर्शन हैं, अनेक अलौकिक आभूषण हैं, हाथोंमें उठाये हुए अनेक दिव्य आयुध हैं तथा जिनके गलेमें दिव्य मालाएँ हैं, जो अलौकिक वस्त्र पहने हुए हैं, जिनके ललाट तथा शरीरपर दिव्य चन्दन, कुंकुम आदि लगा हुआ है, ऐसे सम्पूर्ण आश्चर्यमय, अनन्त रूपोंवाले तथा सब तरफ मुखोंवाले देव (अपने दिव्य स्वरूप)-को भगवान्‌ने दिखाया।'

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ १२॥

अगर आकाशमें एक साथ हजारों सूर्योंका उदय हो जाय, तो भी उन सबका प्रकाश मिलकर उस महात्मा (विराट्‌रूप परमात्मा)-के प्रकाशके समान शायद ही हो अर्थात् नहीं हो सकता।

व्याख्या— **यदि हजारों सूर्योंका प्रकाश हो जाय तो भी वह है तो भौतिक ही! परन्तु भगवान्‌का प्रकाश दिव्य है, भौतिक नहीं। सूर्यमें जो तेज है, वह भी भगवान्‌से ही आया है (गीता १५। १२)।**

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३॥

उस समय अर्जुनने देवोंके देव भगवान्‌के उस शरीरमें एक जगह स्थित अनेक प्रकारके विभागोंमें विभक्त सम्पूर्ण जगत्‌को देखा।

व्याख्या— अर्जुनने भगवान्‌के शरीरमें एक जगह स्थित जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज; स्थावर-जंगम; नभचर-जलचर-थलचर; चौरासी लाख योनियाँ; चौदह भुवन आदि अनेक विभागोंमें विभक्त जगत्‌को देखा। जगत् भले ही अनन्त हो, पर है वह भगवान्‌के एक अंशमें ही (गीता १०।४२)। अर्जुन भगवान्‌के शरीरमें जहाँ भी दृष्टि डालते हैं, वहीं उन्हें अनन्त जगत् दीखता है।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ १४॥

भगवान्‌के विश्वरूपको देखकर वे अर्जुन बहुत चकित हुए और आश्चर्यके कारण उनका शरीर रोमांचित हो गया। वे हाथ जोड़कर विश्वरूप देवको मस्तकसे प्रणाम करके बोले।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

अर्जुन बोले—हे देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओंको तथा प्राणियोंके विशेष-विशेष समुदायोंको और कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्माजीको, शंकरजीको, सम्पूर्ण ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं-
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं-
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥

हे विश्वरूप! हे विश्वेश्वर! आपको मैं अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रोंवाला तथा सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देख रहा हूँ। मैं आपके न आदिको, न मध्यको और न अन्तको ही देख रहा हूँ।

व्याख्या— भगवान्‌के एक अंशमें भी अनन्तता है। भगवान् साकार हों या निराकार, सगुण हों या निर्गुण, बड़े-से-बड़े हों या छोटे-से-छोटे, उनका अनन्तपना ज्यों-का-त्यों रहता है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७॥

मैं आपको किरीट (मुकुट), गदा, चक्र (तथा शङ्ख और पद्म) धारण किये हुए देख रहा हूँ। आपको तेजकी राशि, सब ओर प्रकाशवाले, देदीप्यमान अग्नि तथा सूर्यके समान कान्तिवाले, नेत्रोंके द्वारा कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब तरफसे अप्रमेय-स्वरूप देख रहा हूँ।

व्याख्या— भगवान्‌के द्वारा प्रदत्त दिव्यदृष्टिसे भी अर्जुन भगवान्‌के विराट्‌रूपको देखनेमें पूरे समर्थ नहीं हो रहे हैं—'दुर्निरीक्ष्यम्'। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌की दी हुई शक्तिसे भी भगवान्‌को पूरा नहीं जान सकते। इतना ही नहीं, भगवान् भी अपनेको पूरा नहीं जानते, यदि पूरा जान जायँ तो वे अनन्त कैसे रहेंगे?

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं-
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥

आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर (अक्षर ब्रह्म) हैं, आप ही इस सम्पूर्ण विश्वके परम आश्रय हैं, आप ही सनातन धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं—ऐसा मैं मानता हूँ।

व्याख्या— यहाँ 'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्' पदोंसे निर्गुण-निराकारका, 'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्' पदोंसे सगुण-निराकारका और 'त्वं शाश्वतधर्मगोप्ता' पदोंसे सगुण-साकारका वर्णन हुआ है। ये सब मिलकर भगवान्‌का समग्ररूप है, जिसे जान लेनेपर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता (गीता ७। २)।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं-
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९॥

आपको मैं आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त प्रभावशाली, अनन्त भुजाओंवाले, चन्द्र और सूर्यरूप नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखोंवाले और अपने तेजसे इस संसारको तपाते हुए देख रहा हूँ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं-
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २०॥

हे महात्मन्! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका अन्तराल और सम्पूर्ण दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं। आपके इस अद्‌भुत और उग्ररूपको देखकर तीनों लोक व्यथित (व्याकुल) हो रहे हैं।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ २१॥

वे ही देवताओंके समुदाय आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं। उनमेंसे कई तो भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए (आपके नामों और गुणोंका) कीर्तन कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो! मंगल हो!' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंके द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं।

व्याख्या— **देवता, महर्षि, सिद्ध आदि सभी भगवान्‌के ही विराट्‌रूपके अंग हैं। अतः प्रविष्ट होनेवाले, भयभीत होनेवाले, भगवान्‌के नामों और गुणोंका कीर्तन करनेवाले और स्तुति करनेवाले भी भगवान् हैं और जिनमें प्रविष्ट हो रहे हैं, जिनसे भयभीत हो रहे हैं, जिनके नामों और गुणोंका कीर्तन कर रहे हैं तथा जिनकी स्तुति कर रहे हैं, वे भी भगवान् हैं।**

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या-
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा-
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥

जो ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, बारह साध्यगण, दस विश्वेदेव और दो अश्विनीकुमार तथा उन्चास मरुद्गण और गरम-गरम भोजन करनेवाले (सात पितृगण) तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय हैं, (वे) सभी चकित होकर आपको देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं-
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं-
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥

हे महाबाहो! आपके बहुत मुखों और नेत्रोंवाले, बहुत भुजाओं, जंघाओं और चरणोंवाले, बहुत उदरोंवाले और बहुत विकराल दाढ़ोंवाले महान् रूपको देखकर सब प्राणी व्यथित हो रहे हैं तथा मैं भी व्यथित हो रहा हूँ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं-
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥

क्योंकि हे विष्णो! आपके देदीप्यमान अनेक वर्ण हैं, आप आकाशको स्पर्श कर रहे हैं अर्थात् सब तरफसे बहुत बड़े हैं, आपका मुख फैला हुआ है, आपके नेत्र प्रदीप्त और विशाल हैं। ऐसे आपको देखकर भयभीत अन्त:करणवाला मैं धैर्य और शान्तिको प्राप्त नहीं हो रहा हूँ।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

आपके प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित और दाढ़ोंके कारण विकराल (भयानक) मुखोंको देखकर मुझे न तो दिशाओंका ज्ञान हो रहा है और न शान्ति ही मिल रही है। इसलिये हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ २७॥

हमारे पक्षके मुख्य-मुख्य योद्धाओंके सहित भीष्म, द्रोण और वह कर्ण भी आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं। राजाओंके समुदायोंके सहित धृतराष्ट्रके वे ही सब-के-सब पुत्र आपके विकराल दाढ़ोंके कारण भयंकर मुखोंमें बड़ी तेजीसे प्रविष्ट हो रहे हैं। उनमेंसे कई-एक तो चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा-
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८॥

जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके सम्मुख दौड़ते हैं, ऐसे ही वे संसारके महान् शूरवीर आपके सब तरफसे देदीप्यमान मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा-
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९॥

जैसे पतंगे (मोहवश) अपना नाश करनेके लिये बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रज्वलित अग्निमें प्रविष्ट होते हैं, ऐसे ही ये सब लोग भी (मोहवश) अपना नाश करनेके लिये बड़े वेगसे दौड़ते हुए आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं-
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ ३०॥

आप अपने प्रज्वलित मुखोंद्वारा सम्पूर्ण लोकोंका ग्रसन करते हुए उन्हें सब ओरसे बार-बार चाट रहे हैं; और हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत्को परिपूर्ण करके सबको तपा रहा है।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो-
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं-
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ ३१॥

मुझे यह बताइये कि उग्र रूपवाले आप कौन हैं? हे देवताओंमें श्रेष्ठ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइये। आदिरूप आपको मैं तत्त्वसे जानना चाहता हूँ; क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको भलीभाँति नहीं जानता।

व्याख्या—भगवान्‌के ऐश्वर्ययुक्त उग्ररूपको देखकर अर्जुन इतने घबरा जाते हैं कि अपने ही सखा श्रीकृष्णसे पूछ बैठते हैं कि आप कौन हैं!

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो-
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ ३२॥

श्रीभगवान् बोले—मैं सम्पूर्ण लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ और इस समय मैं इन सब लोगोंका संहार करनेके लिये यहाँ आया हूँ। तुम्हारे प्रतिपक्षमें जो योद्धालोग खड़े हैं, वे सब तुम्हारे (युद्ध किये) बिना भी नहीं रहेंगे।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ३३॥

इसलिये तुम (युद्धके लिये) खड़े हो जाओ और यशको प्राप्त करो तथा शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोगो। ये सभी मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन् अर्थात् दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाले अर्जुन! (तुम इनको मारनेमें) निमित्तमात्र बन जाओ।

व्याख्या—निमित्तमात्र बननेका तात्पर्य यह नहीं है कि नाममात्रके लिये कर्म करो, प्रत्युत इसका तात्पर्य है कि अपनी पूरी-की-पूरी शक्ति लगाओ, पर अपनेको कारण मत मानो अर्थात् अपने उद्योगमें कमी भी मत रखो और अपनेमें अभिमान भी मत करो। भगवान्ने अपनी ओरसे हमपर कृपा करनेमें कोई कमी नहीं रखी है। हमें तो निमित्तमात्र बनना है। अर्जुनके सामने तो युद्ध था, इसलिये भगवान् उनसे कहते हैं कि तुम निमित्तमात्र बनकर युद्ध करो, तुम्हारी विजय होगी। इसी तरह हमारे सामने संसार है, इसलिये हम भी निमित्तमात्र बनकर साधन करें तो संसारपर हमारी विजय हो जायगी।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा-
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

द्रोण और भीष्म तथा जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य सभी मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीरोंको तुम मारो। तुम व्यथा मत करो और युद्ध करो। युद्धमें (तुम नि:सन्देह) वैरियोंको जीतोगे।

व्याख्या—**भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि ये सभी शूरवीर शत्रु मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। इससे साधकको यह समझना चाहिये कि राग-द्वेष,काम-क्रोध आदि शत्रु भी पहलेसे ही मारे हुए हैं अर्थात् सत्तारहित हैं। इनको साधकने ही सत्ता और महत्ता देकर अपनेमें स्वीकार किया है।**

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं-
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ ३५॥

संजय बोले—भगवान् केशवका यह वचन सुनकर (भयसे) काँपते हुए किरीटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर नमस्कार करके और भयभीत होते हुए भी फिर प्रणाम करके गद्‌गद वाणीसे भगवान् कृष्णसे बोले।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥ ३६॥

अर्जुन बोले—हे अन्तर्यामी भगवन्! आपके (नाम, गुण, लीलाका) कीर्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और अनुराग (प्रेम)-को प्राप्त हो रहा है। (आपके नाम, गुण आदिके कीर्तनसे) भयभीत होकर राक्षसलोग दसों दिशाओंमें भागते हुए जा रहे हैं और सम्पूर्ण सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं। यह सब होना उचित ही है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

हे महात्मन्! गुरुओंके भी गुरु और ब्रह्माके भी आदिकर्ता आपके लिये (वे सिद्धगण) नमस्कार क्यों नहीं करें? क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! आप अक्षर-स्वरूप हैं; आप सत् भी हैं, असत् भी हैं और उनसे (सत्-असत्से) पर भी जो कुछ है, वह भी आप ही हैं।

व्याख्या—सत् और असत्—दोनों सापेक्ष होनेसे लौकिक हैं और जो इनसे परे है, वह निरपेक्ष होनेसे अलौकिक है। लौकिक और अलौकिक—दोनों ही परमात्माके समग्ररूप हैं। परमात्माकी परा और अपरा प्रकृति सत्-असत्से परे नहीं है, पर परमात्मा सत्-असत्से परे भी हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥

आप ही आदिदेव और पुराण पुरुष हैं तथा आप ही इस संसारके परम आश्रय हैं। आप ही सबको जाननेवाले, जाननेयोग्य और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप! आपसे ही सम्पूर्ण संसार व्याप्त है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥

आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, दक्ष आदि प्रजापति और प्रपितामह (ब्रह्माजीके भी पिता) हैं। आपको हजारों बार नमस्कार हो! नमस्कार हो! और फिर भी आपको बार-बार नमस्कार हो! नमस्कार हो!

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं-
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

हे सर्वस्वरूप! आपको आगेसे भी नमस्कार हो और पीछेसे भी नमस्कार हो! आपको सब ओरसे (दसों दिशाओंसे) ही नमस्कार हो! हे अनन्तवीर्य! असीम पराक्रमवाले आपने सबको (एक देशमें) समेट रखा है; अतः सब कुछ आप ही हैं।

व्याख्या—ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितृगण, सर्प, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, असुर, ऋषि-महर्षि, सिद्धगण, वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, सूर्य आदि और इनके सिवाय भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथ आदि समस्त राजालोग—ये सब-के-सब दिव्य विराट्रूपके ही अंग हैं। इतना ही नहीं, अर्जुन, संजय, धृतराष्ट्र तथा कौरव और पाण्डवसेना भी उसी विराट्रूपके ही अंग हैं—'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'। तात्पर्य है कि जड़-चेतन, स्थावर-जंगमरूपसे जो कुछ भी देखने, सुनने तथा सोचनेमें आ रहा है, वह सब अविनाशी भगवान् ही हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं-
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं-
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ ४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं-
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ ४२॥

आपकी इस महिमाको न जानते हुए 'मेरे सखा हैं' ऐसा मानकर मैंने प्रमादसे अथवा प्रेमसे भी हठपूर्वक (बिना सोचे-समझे) 'हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे!' इस प्रकार जो कुछ कहा है; और हे अच्युत! हँसी-दिल्लगीमें, चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते समय अकेले अथवा उन (सखाओं, कुटुम्बियों आदि)-के सामने (मेरे द्वारा आपका) जो कुछ तिरस्कार (अपमान) किया गया है; हे अप्रमेयस्वरूप! वह सब आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ अर्थात् आपसे क्षमा माँगता हूँ।

व्याख्या—अर्जुनका भगवान्‌के प्रति सखाभाव था; परन्तु भगवान्‌के ऐश्वर्यको देखनेसे वे अपना सखाभाव भूल जाते हैं और भगवान्‌को देखकर आश्चर्य करते हैं, भयभीत होते हैं! उनके मनमें यह सम्भावना ही नहीं थी कि जिनको मैं अपना सखा मानता हूँ, वे भगवान् ऐसे हैं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो-
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

आप ही इस चराचर संसारके पिता हैं, आप ही पूजनीय हैं और आप ही गुरुओंके महान् गुरु हैं। हे अनन्त प्रभावशाली भगवन्! इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो हो ही कैसे सकता है!

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं-
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ४४॥

इसलिये स्तुति करनेयोग्य आप ईश्वरको मैं शरीरसे लम्बा पड़कर, प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ। पिता जैसे पुत्रका, मित्र जैसे मित्रका और पति जैसे पत्नीका (अपमान सह लेता है), ऐसे ही (आप मेरे द्वारा किया गया अपमान) सहनेमें अर्थात् क्षमा करनेमें समर्थ हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं-
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥

जिसको पहले कभी नहीं देखा, उस रूपको देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ और साथ-ही-साथ भयसे मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है। अतः आप मुझे अपने उसी देवरूप (शान्त विष्णुरूप)-को दिखाइये। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

मैं आपको वैसे ही किरीट (मुकुट)-धारी, गदाधारी और हाथमें चक्र लिये हुए अर्थात् चतुर्भुजरूपसे देखना चाहता हूँ। इसलिये हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! आप उसी चतुर्भुजरूपसे (शंख-चक्र-गदा-पद्मसहित) हो जाइये।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं-
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं-
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी सामर्थ्यसे मेरा यह अत्यन्त श्रेष्ठ, तेजस्वरूप, सबका आदि और अनन्त विश्वरूप तुझे दिखाया है, जिसको तुम्हारे सिवाय पहले किसीने नहीं देखा है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८॥

हे कुरुश्रेष्ठ! मनुष्यलोकमें इस प्रकारके विश्वरूप-वाला मैं न वेदोंके पाठसे, न यज्ञोंके अनुष्ठानसे, न शास्त्रोंके अध्ययनसे, न दानसे, न उग्र तपोंसे और न मात्र क्रियाओंसे तेरे (कृपापात्रके) सिवाय और किसीके द्वारा देखा जा सकता हूँ।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो-
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं-
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९॥

यह मेरा इस प्रकारका उग्र रूप देखकर तुझे व्यथा नहीं होनी चाहिये और विमूढभाव भी नहीं होना चाहिये। अब निर्भय और प्रसन्न मनवाला होकर तू फिर उसी मेरे इस (चतुर्भुज) रूपको अच्छी तरह देख ले।

व्याख्या—अर्जुनको भयभीत देखकर भगवान् कहते हैं कि मैं चाहे शान्त अथवा उग्र किसी भी रूपमें दिखायी दूँ, हूँ तो मैं तुम्हारा सखा ही! तुम डर गये तो यह तुम्हारी मूढ़ता है! जो कुछ दीख रहा है, वह सब मेरी ही लीला है। इसमें डरनेकी क्या बात है?

हमें जो संसार दीखता है, वह भगवान्का विराट्रूप नहीं है। कारण कि विराट्रूप तो दिव्य और अविनाशी है, पर दीखनेवाला संसार भौतिक और नाशवान् है। जैसे हमें भौतिक वृन्दावन तो दीखता है, पर उसके भीतरका दिव्य वृन्दावन नहीं दीखता, ऐसे ही हमें भौतिक विश्व तो दीखता है, पर उसके भीतरका दिव्य विश्व (विराट्रूप) नहीं दीखता। ऐसा दीखनेमें कारण है—सुखभोगकी इच्छा। भोगेच्छाके कारण ही जड़ता, भौतिकता, मलिनता दीखती है। यदि भोगेच्छाको लेकर संसारमें आकर्षण न हो तो सब कुछ चिन्मय विराट्रूप ही है।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं-
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ ५०॥

संजय बोले—वासुदेवभगवान्‌ने अर्जुनसे ऐसा कहकर फिर उसी प्रकारसे अपना रूप (देवरूप) दिखाया और महात्मा श्रीकृष्णने पुनः सौम्यरूप (द्विभुज मानुषरूप) होकर इस भयभीत अर्जुनको आश्वासन दिया।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ ५१॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! आपके इस सौम्य मनुष्यरूपको देखकर मैं इस समय स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ।

व्याख्या— **द्विभुज मनुष्यरूप (कृष्ण), चतुर्भुजरूप (विष्णु) और सहस्रभुज (विराट्‌रूप)—तीनों एक ही समग्र भगवान्‌के रूप हैं।**

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

श्रीभगवान् बोले—मेरा यह जो (चतुर्भुज) रूप तुमने देखा है, इसके दर्शन अत्यन्त दुर्लभ हैं। देवता भी इस रूपको देखनेके लिये नित्य लालायित रहते हैं।

व्याख्या— यद्यपि देवताओंका शरीर दिव्य होता है, तथापि भगवान्‌का शरीर उससे भी अधिक विलक्षण है। देवताओंका शरीर भौतिक तेजोमय और भगवान्‌का शरीर चिन्मय, सत्-चित्-आनन्दमय तथा अलौकिक होता है। अतः देवता भी भगवान्‌को देखनेके लिये लालायित रहते हैं। जैसे साधारण लोगोंमें नये-नये स्थान देखनेकी रुचि रहती है, ऐसे ही देवताओंमें भगवान्‌को देखनेकी रुचि तो है, पर प्रेम नहीं है। भगवान्‌को अनन्यप्रेमसे ही देखा जा सकता है।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ ५३॥

जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, इस प्रकारका (चतुर्भुजरूपवाला) मैं न तो वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ ५४॥

परन्तु हे शत्रुतापन अर्जुन! इस प्रकार (चतुर्भुज-रूपवाला) मैं केवल अनन्यभक्तिसे ही तत्त्वसे जाननेमें और (साकाररूपसे) देखनेमें तथा प्रवेश (प्राप्त)करनेमें शक्य हूँ।

व्याख्या—वेदाध्ययन, तप, दान, यज्ञ आदि कितनी ही महान् क्रिया क्यों न हो, उससे भगवान्‌को प्राप्त नहीं किया जा सकता। उन्हें तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त किया जा सकता है। अनन्यभक्ति है—केवल भगवान्‌का ही आश्रय, सहारा हो और अपने बलका किंचिन्मात्र भी आश्रय न हो।

ज्ञानमार्गमें तो केवल जानना और प्रवेश करना—ये दो होते हैं (गीता १८। ५५), पर भक्तिमार्गमें जानना, देखना और प्रवेश करना—ये तीनों होते हैं। भक्तिसे भगवान्‌के दर्शन भी हो सकते हैं—यह भक्तिकी विशेषता है। भक्तिसे समग्रकी प्राप्ति होती है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ ५५॥

हे पाण्डव! जो मेरे लिये ही कर्म करनेवाला, मेरे ही परायण और मेरा ही प्रेमी भक्त है तथा सर्वथा आसक्ति-रहित और प्राणिमात्रके साथ वैरभावसे रहित है, वह भक्त मुझे प्राप्त होता है।

व्याख्या—**अनन्यभक्तिके पाँच साधन हैं—(१) भगवान्‌के लिये कर्म करना अर्थात् स्थूलशरीरसे भगवान्‌के परायण होना, (२) भगवान्‌के परायण होना अर्थात् सूक्ष्म तथा कारणशरीरसे भगवान्‌के परायण होना, (३) भगवान्‌का प्रेमी भक्त होना अर्थात् स्वयंसे भगवान्‌के परायण होना, (४) सर्वथा आसक्तिरहित होना और (५) प्राणिमात्रके साथ वैरभावसे रहित होना। इन पाँचोंमें प्रथम तीन बातें भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़नेके लिये हैं और अन्तिम दो बातें संसारसे सम्बन्ध तोड़नेके लिये हैं।**

संसारकी सत्ता सिद्धकी दृष्टिमें नहीं है, प्रत्युत साधककी दृष्टिमें है। अतः साधकको सावधान रहना चाहिये कि वह संसारके साथ किसी भी तरहका सम्बन्ध न माने; क्योंकि सम्बन्ध ही बाँधनेवाला है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—जो भक्त इस प्रकार (ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकके अनुसार) निरन्तर आपमें लगे रहकर आप (सगुण-साकार)-की उपासना करते हैं और जो अविनाशी निर्गुण-निराकारकी ही उपासना करते हैं, उन दोनोंमेंसे उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको लगाकर नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर मेरी (सगुण-साकारकी) उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।

व्याख्या— यद्यपि ज्ञान और भक्ति—दोनों ही मनुष्यका दुःख दूर करनेमें समान हैं, तथापि ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी अधिक महिमा है। ज्ञानसे तो अखण्डरसकी प्राप्ति होती है, पर भक्तिसे अनन्तरस (प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम)-की प्राप्ति होती है। जैसे संसारमें किसी वस्तुका ज्ञान होता है कि 'ये रुपये हैं' आदि, तो इस ज्ञानसे केवल अज्ञान (अनजानपना) मिट जाता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञानसे केवल अज्ञान मिटता है। अज्ञान मिटनेसे दुःख, भय, जन्म-मरण—ये सब मिट जाते हैं। परन्तु भक्ति ज्ञानसे भी विलक्षण है। जैसे 'ये रुपये हैं' यह ज्ञान हो जानेपर अनजानपना मिट जाता है, पर उनको पानेका लोभ हो जाय कि 'और मिले, और मिले' तो उसमें एक विशेष रस आता है। वस्तुके आकर्षणमें जो रस है वह रस वस्तुके ज्ञानमें नहीं है। ऐसे ही भक्तिमें एक विशेष रस है। ज्ञानका रस तो स्वयं लेता है, पर प्रेमका रस भगवान् लेते हैं। भगवान् ज्ञानके भूखे नहीं हैं, प्रत्युत प्रेमके भूखे हैं। अतः 'प्रेम' मुक्ति, तत्त्वज्ञान, स्वरूप-बोध, आत्मसाक्षात्कार, कैवल्यसे भी आगेकी वस्तु है!

ज्ञानमार्गमें सत् और असत् दोनोंकी मान्यता (विवेक) साथ-साथ रहनेसे असत्की अति सूक्ष्म सत्ता अर्थात् सूक्ष्म अहम् दूरतक साथ रहता है। यह सूक्ष्म अहम् मुक्त होनेपर भी रहता है। इस सूक्ष्म अहम्के रहनेसे पुनर्जन्म तो नहीं होता, पर भगवान्से अभिन्नता नहीं होती और दार्शनिकोंमें तथा उनके दर्शनोंमें परस्पर मतभेद रहता है। परन्तु प्रेमका उदय होनेपर भगवान्से अभिन्नता हो जाती है तथा सम्पूर्ण दार्शनिक मतभेद मिट जाते हैं॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥

और जो अपने इन्द्रिय-समूहको भलीभाँति वशमें करके चिन्तनमें न आनेवाले, सब जगह परिपूर्ण, देखनेमें न आनेवाले, निर्विकार, अचल, ध्रुव, अक्षर और अव्यक्तकी तत्परतासे उपासना करते हैं, वे प्राणिमात्रके हितमें प्रीति रखनेवाले और सब जगह समबुद्धिवाले मनुष्य मुझे ही प्राप्त होते हैं।

व्याख्या— भगवान्‌ने यहाँ ब्रह्मके जो लक्षण (अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अक्षर, अव्यक्त आदि) बताये हैं, वही लक्षण जीवात्माके भी बताये हैं*। दोनोंके समान लक्षण बतानेका तात्पर्य है कि जीव और ब्रह्म—दोनों स्वरूपसे एक ही हैं। देहके साथ सम्बन्ध होनेसे (अनेकरूपसे) जो जीव है, वह देहके साथ सम्बन्ध न होनेसे (एकरूपसे) ब्रह्म है अर्थात् जीव केवल शरीरकी उपाधिसे, देहाभिमानके कारण ही अलग है, अन्यथा वह ब्रह्म ही है। इसलिये ज्ञानमार्गमें ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर साधककी साध्यसे सधर्मता हो जाती है—'मम साधर्म्यमागताः' (गीता १४। २)।

सगुण और निर्गुण—ये दो परमात्माके विशेषण हैं। विशेष्य परमात्मतत्त्व एक ही है। इसलिये भगवान्‌ने निर्गुणके उपासकोंको भी अपनी ही प्राप्ति बतायी है—'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'। भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि निर्गुण-निराकार रूप भी मेरा ही है, वह मेरे समग्ररूपसे अलग नहीं है।

ज्ञानयोगका साधक प्रायः समाजसे असंग रहता है। वास्तवमें असंगता शरीरसे होनी चाहिये, समाजसे नहीं। समाजसे असंगता होनेपर अहंभाव नहीं मिटता। जबतक साधक स्वयंको शरीरसे सर्वथा असंग अनुभव नहीं कर लेता, तबतक संसारसे अलग (एकान्तमें) रहनेमात्रसे उसका साधन सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि शरीर भी संसारका ही अंग है। इसलिये शरीरसे सम्बन्ध माननेपर संसारमात्रसे सम्बन्ध हो जाता है। शरीरसे असंग होनेके लिये साधकमें प्राणिमात्रके हितका भाव रहना अत्यन्त आवश्यक है।

---

* द्रष्टव्य—'गीता-दर्पण' ग्रन्थका उन्सठवाँ लेख—'गीतामें परमात्मा और जीवात्माका स्वरूप'।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले उन साधकोंको (अपने साधनमें) कष्ट अधिक होता है; क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति कठिनतासे प्राप्त की जाती है।

व्याख्या— **निर्गुणोपासनामें जो देहसहित है, वह उपासक (जीव) है और जो देहरहित है, वह उपास्य (ब्रह्म) है। देहके साथ माना हुआ सम्बन्ध ही जीव और ब्रह्मकी एकतामें मुख्य बाधक है। इसलिये देहाभिमानीके लिये निर्गुणोपासनाकी सिद्धि कठिनतासे और देरीसे होती है। परन्तु सगुणोपासनामें भगवान्की विमुखता ही बाधक है, देहाभिमान नहीं। इसलिये सगुणोपासक संसारसे विमुख होकर भगवान्के सम्मुख हो जाता है और साधनके आश्रित न होकर भगवान्के आश्रित हो जाता है। अतः भगवान् कृपा करके उसका शीघ्र ही उद्धार कर देते हैं (गीता ८।१४, १२।७)। यह सगुणोपासनाकी विलक्षणता है।**

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥

परन्तु जो सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण करके और मेरे परायण होकर अनन्ययोग (सम्बन्ध)-से मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं।

व्याख्या—जैसे ज्ञानयोगी क्रियाओंको प्रकृतिके द्वारा होनेवाली समझकर तथा अपनेको उनसे सर्वथा असंग अनुभव करके कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है, ऐसे ही भक्तियोगी अपनी क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करके कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

'मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ, और किसीका नहीं हूँ तथा केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं, और कोई भी मेरा अपना नहीं है'—ऐसा मानना ही अनन्ययोगसे भगवान्‌की उपासना करना है।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

हे पार्थ! मुझमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।

व्याख्या—छठे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्ने सामान्य साधकोंके लिये अपने द्वारा अपना उद्धार करनेकी बात कही थी—'उद्धरेदात्मनात्मानम्' और यहाँ कहते हैं कि भक्तोंका उद्धार मैं करता हूँ। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक साधक आरम्भमें स्वयं ही साधनमें लगता है। परन्तु जो साधक भगवान्के आश्रित होता है, उसका उद्धार भगवान् करते हैं। वह तो अपने उद्धारकी चिन्ता न करके केवल भगवान्के भजनमें ही लगा रहता है। उसका साधन और साध्य भगवान् ही होते हैं। परन्तु ज्ञानमार्गमें चलनेवाला साधक अपना उद्धार स्वयं करता है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८॥

तू मुझमें मनको स्थापन कर और मुझमें ही बुद्धिको प्रविष्ट कर; इसके बाद तू मुझमें ही निवास करेगा—इसमें संशय नहीं है।

व्याख्या— मन-बुद्धि भगवान्‌की अपरा प्रकृति है (गीता ७। ४-५)। भगवान्‌की शक्ति होते हुए भी अपरा प्रकृति भगवान्‌से भिन्न स्वभाववाली (जड़ और परिवर्तनशील) है। परन्तु परा प्रकृति (जीवात्मा) भगवान्‌से भिन्न स्वभाववाली नहीं है। इसलिये वास्तवमें मन-बुद्धि भगवान्‌में नहीं लग सकते, प्रत्युत स्वयं ही भगवान्‌में लग सकता है। गीतामें जहाँ-जहाँ मन-बुद्धि भगवान्‌में लगानेकी बात आयी है, वहाँ वास्तवमें स्वयंको ही भगवान्‌में लगानेकी बात कही गयी है।

भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेसे मन-बुद्धि तो नहीं लगते, पर स्वयं लग जाता है—निवसिष्यसि मय्येव'। कारण कि जीवका स्वभाव है कि वह स्वयं वहीं लगता है, जहाँ उसके मन-बुद्धि लगते हैं। जैसे सुई जहाँ जाती है, धागा वहीं जाता है, ऐसे ही मन-बुद्धि जहाँ जाते हैं, स्वयं वहीं जाता है। संसारको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे मन-बुद्धि संसारमें लग गये। संसारमें मन-बुद्धि लगनेसे जीव भी स्वयं संसारमें लग गया। इसलिये जीवको संसारसे हटानेके लिये भगवान् मन-बुद्धिको अपनेमें लगानेकी आज्ञा देते हैं।

भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि भगवान्‌में नहीं लगते, प्रत्युत लीन हो जाते हैं; क्योंकि मूलमें अपरा प्रकृति भगवान्‌का ही स्वभाव है। भगवान्‌में लीन होनेपर मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् ही रह जाते हैं।

पूर्वपक्ष— मन-बुद्धि तो करण हैं, पर जीव कर्ता है। करण कर्ताके अधीन रहते हैं। जहाँ कर्ता लगेगा, वहीं करण भी लगेंगे। अतः जहाँ करण लगेंगे, वहाँ कर्ता भी लगेगा—ऐसा कहनेका क्या औचित्य है?

उत्तरपक्ष— क्रियाकी सिद्धिमें करण अत्यन्त उपकारक होता है—'साधकतमं करणम्' (पाणि० अ० १। ४। ४२)। जैसे, 'रामके बाणसे बालि मारा गया'—इस वाक्यमें 'बाण' करण है; क्योंकि बालिके मरनेमें बाण हेतु हुआ, धनुष, प्रत्यंचा, हाथ आदि नहीं। साधकके पास सबसे श्रेष्ठ करण 'बुद्धि' है, जिसे वह परमात्मामें लगाता है। उपनिषद्‌में शरीरको रथ, जीवात्माको रथी, इन्द्रियोंको घोड़े, मनको लगाम और बुद्धिको सारथि कहा गया है—'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि' (कठोपनिषद् १। ३। ३)। रथ, घोड़े और लगाम तो राजभवनके बाहर ही छूट जाते हैं। राजभवनके भीतर रनिवासतक सारथि जाता है। फिर रथी अकेले रनिवासके भीतर जाता है, सारथि लौट आता है। अतः साधककी बुद्धि परमात्मातक पहुँचती है, पर वह परमात्माको पकड़ नहीं पाती। परमात्मातक स्वयं ही पहुँच पाता है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ ९॥

अगर तू मनको मुझमें अचलभावसे स्थिर (अर्पण) करनेमें अपनेको समर्थ नहीं मानता, तो हे धनञ्जय! अभ्यासयोगके द्वारा तू मेरी प्राप्तिकी इच्छा कर।

व्याख्या—एकमात्र भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया भजन, नाम-जप आदि 'अभ्यासयोग' है। यदि केवल अभ्यास हो, योग न हो तो एक नयी स्थिति बनेगी, कल्याण नहीं होगा। मनका निरोध करना अथवा मनको बार-बार भगवान्में लगाना अभ्यास है (गीता ६। २६)। परन्तु अभ्यासयोगमें मनका निरोध नहीं है, प्रत्युत मनसे सम्बन्ध-विच्छेद है।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १०॥

अगर तू अभ्यासयोगमें भी अपनेको असमर्थ पाता है तो मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो जा। मेरे लिये कर्मोंको करता हुआ भी तू सिद्धिको प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या— **अभ्यासकी अपेक्षा भी क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करना सुगम है। कारण कि अभ्यास तो नया काम है, जो करना पड़ता है, पर कर्म करनेका स्वभाव पड़ा हुआ होनेसे कर्म स्वतः होते हैं। उन लौकिक-पारमार्थिक सभी कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करनेसे मनुष्य सुगमतापूर्वक भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है (गीता ९। २७-२८)।**

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११॥

अगर मेरे योग (समता)-के आश्रित हुआ तू इस (पूर्वश्लोकमें कहे गये साधन)-को भी करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है, तो मन-इन्द्रियोंको वशमें करके सम्पूर्ण कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग कर।

व्याख्या— यदि साधक सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण न कर सके अर्थात् भगवान्‌के लिये सभी कर्म न कर सके तो उसे फलेच्छाका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करने चाहिये; क्योंकि फलेच्छा ही बाँधनेवाली है—'फले सक्तो निबध्यते' (गीता ५। १२)। फलकी इच्छाका त्याग करके कर्तव्यकर्म करनेसे उसका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥

अभ्याससे शास्त्रज्ञान श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परमशान्ति प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या—अभ्यास, शास्त्रज्ञान और ध्यान—ये तीनों तो करणसापेक्ष हैं,पर कर्मफलत्याग करणनिरपेक्ष है। वास्तवमें ये चारों ही साधन श्रेष्ठ हैं और उन साधकोंके लिये हैं, जिनका उद्देश्य त्यागका है। परन्तु कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ बतानेका कारण यह है कि लोगोंमें इस साधनके प्रति हेयबुद्धि है,जबकि त्यागमें कर्मफलका त्याग ही श्रेष्ठ है। (गीता १८। ११)

इस श्लोकमें आये चार साधनोंके अन्तर्गत दसवें श्लोकमें आये 'मदर्थमपि कर्माणि' (भगवान्‌के लिये कर्म करना) अर्थात् भक्तिको नहीं लिया है। इसका कारण यह है कि भक्तिमें ही साधनकी पूर्णता हो जाती है। अतः भक्ति और त्याग—दोनों ही श्रेष्ठ हैं।

कर्मफलत्यागका अर्थ है—कर्मफलकी इच्छाका त्याग। इच्छा भीतर होती है और फलत्याग बाहर होता है। फलत्याग करनेपर भी भीतरमें उसकी इच्छा रह सकती है। अतः साधकका उद्देश्य कर्मफलकी इच्छाके त्यागका रहना चाहिये। इच्छाका त्याग होनेसे जन्म-मरणका कारण ही नहीं रहता। मुक्ति वस्तुके त्यागसे नहीं होती, प्रत्युत इच्छाके त्यागसे होती है। इसलिये गीतामें फलेच्छाके त्यागपर अधिक जोर दिया गया है।

किसी साधनकी सुगमता अथवा कठिनता साधककी रुचि और उद्देश्यपर निर्भर करती है। रुचि और उद्देश्य एक भगवान्‌का होनेसे साधन सुगम हो जाता है। परन्तु रुचि संसारकी और उद्देश्य भगवान्‌का होनेसे साधन कठिन हो जाता है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

सब प्राणियोंमें द्वेषभावसे रहित और मित्रभाववाला तथा दयालु भी और ममतारहित, अहंकाररहित, सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम, क्षमाशील, निरन्तर सन्तुष्ट, योगी, शरीरको वशमें किये हुए, दृढ़ निश्चयवाला मुझमें अर्पित मन-बुद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।

व्याख्या—गीतामें मित्रता और करुणा न कर्मयोगीके लक्षणोंमें आयी है, न ज्ञानयोगीके लक्षणोंमें, प्रत्युत केवल भक्तके लक्षणोंमें आयी है। कर्मयोगी और ज्ञानयोगीमें समता तो होती है, पर मित्रता और करुणा नहीं होती। परन्तु भक्तमें आरम्भसे ही मित्रता और करुणा होती है।

भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, फिर कौन वैर करे, किससे करे और क्यों करे? *'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'* (मानस, उत्तर० ११२ ख)। यद्यपि ज्ञानयोगीका भी किसीसे किंचिन्मात्र भी वैर नहीं होता, तथापि उसमें स्वाभाविक उदासीनता, तटस्थता रहती है। ज्ञानमार्गमें वैराग्यकी मुख्यता रहती है और वैराग्य रूखा होता है इसलिये ज्ञानयोगीके भीतर कठोरता न होनेपर भी वैराग्य, उदासीनताके कारण बाहरसे कठोरता प्रतीत होती है।

प्रत्येक साधकके लिये निर्मम और निरहंकार होना बहुत आवश्यक है। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग (२।७१), ज्ञानयोग (१८।५३) और भक्तियोग (१२।१३)—तीनों ही योगमार्गोंमें निर्मम और निरहंकार होनेकी बात कही है। कारण कि वास्तवमें हमारा स्वरूप निर्मम-निरहंकार है।

भगवान्‌में ज्ञानकी भूख तो नहीं है, पर प्रेमकी भूख अवश्य है। कारण कि प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है, ज्ञान नहीं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मुझमें अर्पित मन-बुद्धिवाला भक्त मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

जिससे कोई भी प्राणी उद्विग्न (क्षुब्ध) नहीं होता और जो स्वयं भी किसी प्राणीसे उद्विग्न नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या), भय और उद्वेग (हलचल)-से रहित है, वह मुझे प्रिय है।

व्याख्या—भगवान्‌के सिवाय अन्यकी सत्ता माननेसे ही उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि होते हैं। भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्य कोई सत्ता है ही नहीं, फिर वह किससे उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि करे और क्यों करे?

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

जो अपेक्षा (आवश्यकता)-से रहित, (बाहर-भीतरसे) पवित्र, चतुर, उदासीन, व्यथासे रहित और सभी आरम्भोंका अर्थात् नये-नये कर्मोंके आरम्भका सर्वथा त्यागी है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

व्याख्या—भक्तका दर्शन, स्पर्श, भाषण दूसरोंको शुद्ध करनेवाला होता है। उसके शरीरका स्पर्श करनेवाली हवा भी शुद्ध करनेवाली होती है। यद्यपि ऐसी शुद्धि ज्ञानयोगी महापुरुषमें भी होती है, तथापि भक्तमें आरम्भसे ही सबके हितका भाव विशेषरूपसे रहनेके कारण उसमें विशेष शुद्धि होती है।

भक्तने करनेयोग्य काम कर लिया अर्थात् भगवत्प्राप्तिरूप उद्देश्य पूरा कर लिया इसलिये वह दक्ष है।

भक्त भोग तथा संग्रहके लिये किये जानेवाले सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा त्यागी होता है। उसके द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्म भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होते हैं। संसारमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति न रहनेसे भक्तका एकमात्र भगवान्‌में स्वतः-स्वाभाविक प्रेम होता है।

योन हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७॥

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है और जो शुभ-अशुभ कर्मोंसे ऊँचा उठा हुआ (राग-द्वेषरहित) है, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय है।

व्याख्या—हर्ष और शोक, राग और द्वेष—ये द्वन्द्व हैं। भक्तमें कोई भी द्वन्द्व नहीं रहता, वह निर्द्वन्द्व हो जाता है। उसके सम्पूर्ण कर्म राग-द्वेषसे रहित होते हैं।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ १८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९॥

जो शत्रु और मित्रमें तथा मान-अपमानमें सम है और शीत-उष्ण (शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलता) तथा सुख-दुःख (मन-बुद्धिकी अनुकूलता-प्रतिकूलता)-में सम है एवं आसक्तिरहित है, और जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील, जिस किसी प्रकारसे भी (शरीरका निर्वाह होने-न-होनेमें) सन्तुष्ट, रहनेके स्थान तथा शरीरमें ममता-आसक्तिसे रहित और स्थिरबुद्धिवाला है, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय है।

व्याख्या—इन दो श्लोकोंमें भगवान्ने वे ही स्थल दिये हैं, जहाँ समता होनेमें कठिनता आती है। यदि इनमें समता हो जाय तो अन्य जगह समता होनेमें कठिनता नहीं प्रतीत होगी। अपनेपर कोई असर न पड़ना ही समता है।

यद्यपि भक्तकी दृष्टिमें भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ता होती ही नहीं, तथापि दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें वह शत्रु और मित्रमें समभाववाला दीखता है। शत्रुता-मित्रताका ज्ञान होनेपर भी वह सम रहता है।

भक्त सब प्रकारकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सम रहता है। उसका न तो अनुकूलतामें राग होता है, न प्रतिकूलतामें द्वेष होता है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

परन्तु जो मुझमें श्रद्धा रखनेवाले और मेरे परायण हुए भक्त इस धर्ममय अमृतका जैसा कहा है, वैसा ही भलीभाँति सेवन करते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

व्याख्या—भगवान्‌ने सिद्ध भक्तोंके उनतालीस लक्षणोंके पाँच प्रकरण कहे हैं—तेरहवें-चौदहवें श्लोकोंका पहला प्रकरण, पन्द्रहवें श्लोकका दूसरा प्रकरण, सोलहवें श्लोकका तीसरा प्रकरण, सत्रहवें श्लोकका चौथा प्रकरण और अठारहवें-उन्नीसवें श्लोकोंका पाँचवाँ प्रकरण। प्रत्येक प्रकरणके लक्षण धर्म्यामृत हैं। साधक भक्त जिस प्रकरणके लक्षणोंको आदर्श मानकर साधन करता है,उसके लिये वही धर्म्यामृत है। ऐसे साधक भक्त भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय होते हैं।

श्रद्धा साधकमें होती है—'श्रद्दधानाः'। सिद्धमें श्रद्धा नहीं होती, प्रत्युत अनुभव होता है; क्योंकि उसके अनुभवमें एक परमात्माके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, सब कुछ परमात्मा ही हैं, फिर वह श्रद्धा क्या करे? साधककी दृष्टिमें दूसरी सत्ता रहती है, इसलिये वह श्रद्धापूर्वक उपासना करता है। दूसरी सत्ताकी मान्यता रहते हुए भी साधक भगवान्‌के परायण रहता है और भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई उसका प्रेमास्पद नहीं होता, इसलिये वह भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय होता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

तेरहवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! 'यह'-रूपसे कहे जानेवाले शरीरको 'क्षेत्र'—इस नामसे कहते हैं और इस क्षेत्रको जो जानता है, उसको ज्ञानीलोग 'क्षेत्रज्ञ'—इस नामसे कहते हैं।

व्याख्या— अर्जुनके द्वारा बारहवें अध्यायके आरम्भमें किये गये प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने सगुण-साकारकी उपासनाका विस्तारसे वर्णन किया। अब भगवान् यहाँसे निर्गुण-निराकारकी उपासनाका विस्तारसे वर्णन करना आरम्भ करते हैं।

जैसे खेतमें तरह-तरहके बीज डालकर खेती की जाती है, ऐसे ही इस मनुष्यशरीरमें अहंता-ममता करके जीव तरह-तरहके कर्म करता है और फिर उन कर्मोंके फलरूपमें उसे दूसरा शरीर मिलता है। भगवान् शरीरके साथ माने हुए अहंता-ममतारूप सम्बन्धका विच्छेद करनेके लिये शरीरको इदंता (पृथक्ता)-से देखनेके लिये कह रहे हैं, जो प्रत्येक मार्गके साधकके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें जितने भी शरीर हैं, उनमें जीव स्वयं 'क्षेत्रज्ञ' है और अनन्त ब्रह्माण्ड 'क्षेत्र' हैं। क्षेत्रज्ञके एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं—'येन सर्वमिदं ततम्' (गीता २। १७)। साधकको जानना चाहिये कि मैं क्षेत्र नहीं हूँ, प्रत्युत क्षेत्रको जाननेवाला 'क्षेत्रज्ञ' हूँ।

एक ही चिन्मय तत्त्व (सत्ता) क्षेत्रके सम्बन्धसे 'क्षेत्रज्ञ', क्षरके सम्बन्धसे 'अक्षर', शरीरके सम्बन्धसे 'शरीरी', दृश्यके सम्बन्धसे 'द्रष्टा', साक्ष्यके सम्बन्धसे 'साक्षी' और करणके सम्बन्धसे 'कर्त्ता' कहा जाता है। वास्तवमें उस तत्त्वका कोई नाम नहीं है। वह केवल अनुभवरूप है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! तू सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझ और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतमें ज्ञान है।

व्याख्या—क्षेत्र (शरीर)-की तो अनन्त ब्रह्माण्डोंके साथ एकता है और क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा)-की अनन्त-अपार-असीम ब्रह्मके साथ एकता है। तात्पर्य है कि क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म एक ही हैं। एक क्षेत्रके सम्बन्धसे वही 'क्षेत्रज्ञ' है और सम्पूर्ण क्षेत्रोंके सम्बन्धसे रहित होनेपर वही 'ब्रह्म' है।

ब्रह्मके लिये 'माम्' कहनेका तात्पर्य है कि ब्रह्म और ईश्वर दो नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं (गीता ९। ४)। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें जो निर्लिप्तरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण चिन्मय सत्ता है, वह ब्रह्म है और जो अनन्त ब्रह्माण्डोंका स्वामी है, वह ईश्वर है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिससे जो पैदा हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाववाला है, वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥

यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंके द्वारा बहुत विस्तारसे कहा गया है तथा वेदोंकी ऋचाओंद्वारा बहुत प्रकारसे विभागपूर्वक कहा गया है और युक्तियुक्त एवं निश्चित किये हुए ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

मूल प्रकृति और समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व), समष्टि अहंकार, पाँच महाभूत और दस इन्द्रियाँ, एक मन तथा पाँचों इन्द्रियोंके पाँच विषय—यही (चौबीस तत्त्वोंवाला) क्षेत्र है।

व्याख्या— पाँच महाभूत, एक अहंकार और एक बुद्धि—ये सात 'प्रकृति-विकृति' हैं, मूल प्रकृति केवल 'प्रकृति' है और दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय—ये सोलह केवल 'विकृति' हैं। इस तरह इन चौबीस तत्त्वोंके समुदायका नाम 'क्षेत्र' है। इसीका एक तुच्छ अंश यह मनुष्यशरीर है।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (शरीर), चेतना (प्राणशक्ति) और धृति—इन विकारोंसहित यह क्षेत्र संक्षेपसे कहा गया है।

व्याख्या— पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने समष्टि संसारका वर्णन किया और यहाँ व्यष्टि शरीरके विकारोंका वर्णन करते हैं। क्षेत्रके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही इच्छा,द्वेष, सुख, दुःख आदि विकार क्षेत्रज्ञमें होते हैं (गीता १३। २०)। ये सभी विकार तादात्म्य (चिज्जड़ग्रन्थि)-के जड़-अंशमें रहते हैं।

यहाँ भगवान्‌ने चौबीस तत्त्वोंवाले शरीरको तथा उसके सात विकारोंको 'एतत्' (यह) कहा है। तात्पर्य है कि स्वयं क्षेत्रसे मिला हुआ नहीं है, प्रत्युत उससे सर्वथा अलग है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीर 'एतत्' पदके अन्तर्गत होनेसे हमारा स्वरूप नहीं हैं। यहाँ विशेष ध्यान देनेकी बात है कि जब अहंकारका कारण 'महत्तत्त्व' और 'मूल प्रकृति' को भी 'एतत्' शब्दसे कह दिया, तो फिर अहंकारके 'एतत्' होनेमें कहना ही क्या है! अहम्‌से समीप महत्तत्त्व है और महत्तत्त्वसे समीप प्रकृति है, वह प्रकृति भी 'एतत् क्षेत्रम्' में है। तात्पर्य है कि अहम् हमारा स्वरूप है ही नहीं। जो साधक स्वयंको और अहम् (क्षेत्र)-को अलग-अलग जान लेता है, उसका फिर कभी जन्म नहीं होता और वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता १३। २३)।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

अपनेमें श्रेष्ठताका भाव न होना, दिखावटीपन न होना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, स्थिरता और मनका वशमें होना।

व्याख्या— अब भगवान् क्षेत्रके साथ माने हुए सम्बन्ध (तादात्म्य)-को तोड़नेके लिये ज्ञानके साधन बताते हैं।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्यका होना, अहंकारका भी न होना और जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा व्याधियोंमें दुःखरूप दोषोंको बार-बार देखना।

व्याख्या— एक 'दुःखका भोग' होता है और एक 'दुःखका प्रभाव' होता है। दुःखसे दुःखी होना और सुखकी इच्छा करना 'दुःखका भोग' है। दुःखके कारणकी खोज करके उसको मिटाना 'दुःखका प्रभाव' है। यहाँ दुःखके प्रभावको 'दुःखदोषानुदर्शनम्' पदसे कहा गया है।

दुःखका भोग करनेसे अर्थात् दुःखी होनेसे विवेक लुप्त हो जाता है। परन्तु दुःखका प्रभाव होनेसे विवेक लुप्त नहीं होता, प्रत्युत मनुष्य विवेक-दृष्टिसे दुःखके कारणकी खोज करता है और खोज करके उसे मिटाता है। सुखकी इच्छा ही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। कारणके मिटनेपर कार्य अपने-आप मिट जाता है। अतः सुखकी इच्छा मिटनेपर सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥

आसक्तिरहित होना, पुत्र, स्त्री, घर आदिमें एकात्मता (घनिष्ठ सम्बन्ध) न होना और अनुकूलता-प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें चित्तका नित्य सम रहना।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १०॥

मुझमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्तिका होना, एकान्त स्थानमें रहनेका स्वभाव होना और जन-समुदायमें प्रीतिका न होना।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११॥

अध्यात्मज्ञानमें नित्य-निरन्तर रहना, तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सब जगह देखना—यह (पूर्वोक्त बीस साधन-समुदाय) तो ज्ञान है और जो इसके विपरीत है, वह अज्ञान है—ऐसा कहा गया है।

व्याख्या— क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान करानेवाले होनेसे इन बीस साधनोंको भी 'ज्ञान' नामसे कहा गया है। इससे जो विपरीत है, वह 'अज्ञान' है। साधन न करनेसे मनुष्य ज्ञानकी बातें तो सीख लेता है, पर अनुभव नहीं कर सकता। अतः साधन न करनेसे अज्ञान (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञमें एकताका भाव) रहता है और अज्ञानके रहते हुए अगर कोई सीखकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका विवेचन करता है तो वह वास्तवमें अपने देहाभिमानको ही पुष्ट करता है। परन्तु जो ये साधन करता है, उसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका अनुभव हो जाता है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥

जो ज्ञेय (पूर्वोक्त ज्ञानसे जाननेयोग्य) है, उस परमात्मतत्त्वको मैं अच्छी तरहसे कहूँगा, जिसको जानकर मनुष्य अमरताका अनुभव कर लेता है। वह ज्ञेय-तत्त्व अनादिवाला और परम ब्रह्म है। उसको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है।

व्याख्या—गीतामें एक ही समग्र परमात्माका तीन प्रकारसे वर्णन हुआ है—

(१) परमात्मा सत् भी हैं और असत् भी हैं—'सदसच्चाहम्' (९। १९)।

(२) परमात्मा सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्-असत्से पर भी हैं—'सदसत्तत्परं यत्' (११। ३७)।

(३) परमात्मा न सत् हैं और न असत् ही हैं—'न सत्तन्नासदुच्यते' (१३। १२)।

—इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक अनिर्वचनीय परमात्मतत्त्वके सिवाय कुछ नहीं है। वह मन, बुद्धि, वाणीसे सर्वथा अतीत है, इसलिये उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, पर उसे प्राप्त किया जा सकता है।

परमात्मतत्त्वको असत्की अपेक्षासे सत्, जड़की अपेक्षासे चेतन, विकारकी अपेक्षासे निर्विकार, एकदेशीयकी अपेक्षासे सर्वदेशीय, 'नहीं' की अपेक्षासे 'है', गुणोंकी अपेक्षासे सगुण-निर्गुण, आकारकी अपेक्षासे साकार-निराकार, अनेककी अपेक्षासे एक, प्रकाश्यकी अपेक्षासे प्रकाशक, नाशवान्की अपेक्षासे अविनाशी आदि कह देते हैं, पर वास्तवमें उस तत्त्वमें कोई शब्द लागू होता ही नहीं! कारण कि सभी शब्दोंका प्रयोग सापेक्षतासे और प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है, पर तत्त्व निरपेक्ष और प्रकृतिसे अतीत है। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, गुण आदिको लेकर ही संज्ञा बनती है। परमात्मामें देश, काल आदि हैं ही नहीं, फिर उनकी संज्ञा कैसी? इसलिये यहाँ आया है कि उस तत्त्वको सत् अथवा असत् कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

परमात्मतत्त्वका आदि (आरम्भ) नहीं है। जो सदासे है, उसका आदि कैसे? सब अपर हैं, वह पर है। आदि-अनादि, पर-अपर आदिका भेद प्रकृतिके सम्बन्धसे है। वह तत्त्व तो आदि-अनादि, पर-अपर, सत्-असत् आदिसे विलक्षण है। इस प्रकार भगवान्ने ज्ञेयतत्त्वका वर्णन करनेकी जो बात कही है, वह वास्तवमें वर्णन नहीं है, प्रत्युत लक्षक अर्थात् लक्ष्यकी तरफ दृष्टि करानेवाली है। इसका तात्पर्य ज्ञेय-तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है, कोरा वर्णन करनेमें नहीं। इसलिये साधकको भी लक्षककी दृष्टिसे ही विचार करना चाहिये, केवल सीखनेकी दृष्टिसे नहीं।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

वे परमात्मा सब जगह हाथों और पैरोंवाले, सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखोंवाले तथा सब जगह कानोंवाले हैं। वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं।

व्याख्या— **भगवान् सभी अवयवोंसे सभी क्रियाएँ कर सकते हैं; क्योंकि उनके सभी अवयवोंमें सभी अवयव विद्यमान हैं। उनके छोटे-से-छोटे अंशमें भी सब-की-सब इन्द्रियाँ विद्यमान हैं। उनमें सब जगह सब कुछ है—**'सर्वं सर्वात्मकम्' **(योगदर्शन व्यासभाष्य, विभूति० १४)। जैसे, कलम और स्याहीमें किस जगह कौन-सी लिपि नहीं है? जानकार व्यक्ति उस एक ही कलम और स्याहीसे अनेक लिपियाँ लिख देता है। सोनेकी डलीमें किस जगह कौन-सा गहना नहीं है? सुनार उस एक डलीमेंसे कड़ा, कण्ठी, नथ आदि अनेक गहने निकाल लेता है। इसी तरह लोहेमें किस जगह कौन-सा औजार अथवा अस्त्र-शस्त्र नहीं है? मिट्टी और पत्थरमें किस जगह कौन-सी मूर्ति नहीं है? ऐसे ही भगवान्‌में किस जगह क्या नहीं है?**

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥

वे परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाले हैं, आसक्ति-रहित हैं और सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाले हैं तथा गुणोंसे रहित हैं और सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं।

व्याख्या—एक परमात्माके सिवाय और किसीकी भी सत्ता नहीं है। हम जो कुछ भी कहते, सुनते, पढ़ते, सोचते हैं, वह परमात्मासे भिन्न नहीं है। सबसे रहित भी वही है और सबके सहित भी वही है।

इस प्रकरणमें ब्रह्मकी मुख्यता होनेपर भी प्रस्तुत श्लोकमें समग्र परमात्माका ज्ञेय-तत्त्वके रूपमें वर्णन हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि समग्रकी मुख्यता ज्ञान और भक्ति दोनोंमें है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५॥

वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं एवं दूर-से-दूर तथा नजदीक-से-नजदीक भी वे ही हैं और वे अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे जाननेमें नहीं आते।

व्याख्या—परमात्माको बारहवें श्लोकमें तो 'ज्ञेय' कहा गया है, पर प्रस्तुत श्लोकमें उन्हें 'अविज्ञेय' कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि परमात्मा ज्ञेय होनेपर भी संसारकी तरह ज्ञेय नहीं हैं। जैसे संसार इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जाना जाता है, ऐसे परमात्मा इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे नहीं जाने जाते। इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिके कार्य हैं। प्रकृतिका कार्य प्रकृतिको भी पूरा नहीं जान सकता, फिर प्रकृतिसे अतीत परमात्माको जान ही कैसे सकता है? परमात्माको तो मानकर स्वीकार करना पड़ता है; क्योंकि स्वीकृति स्वयंमें होती है। स्वयंकी परमात्माके साथ एकता है, इसलिये परमात्माकी प्राप्ति भी स्वीकृतिसे होती है, चिन्तन-मनन-श्रवण-वर्णन करनेसे नहीं।

**अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥**

वे परमात्मा स्वयं विभागरहित होते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियोंमें विभक्तकी तरह स्थित हैं और वे जाननेयोग्य परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले तथा उनका भरण-पोषण करनेवाले और संहार करनेवाले हैं।

व्याख्या—**जैसे संसार भौतिक दृष्टिसे एक है, ऐसे ही परमात्मा भी एक (अविभक्त) हैं। जैसे संसार भौतिक दृष्टिसे एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं, व्यक्तियों आदिके रूपमें दीखता है, ऐसे ही परमात्मा एक होते हुए भी अनेक रूपोंमें दीखते हैं। तात्पर्य है कि परमात्मा एक होते हुए भी अनेक हैं और अनेक होते हुए भी एक हैं। वास्तविक सत्ता कभी दो हो सकती ही नहीं, क्योंकि दो होनेसे असत् आ जायगा।**

उत्पन्न करनेवाले भी परमात्मा हैं और उत्पन्न होनेवाले भी परमात्मा हैं। भरण-पोषण करनेवाले भी परमात्मा हैं और जिनका भरण-पोषण होता है, वे भी परमात्मा हैं। संहार करनेवाले भी परमात्मा हैं और जिनका संहार होता है, वे भी परमात्मा हैं।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १७॥

वे परमात्मा सम्पूर्ण ज्योतियोंकी भी ज्योति और अज्ञानसे अत्यन्त परे कहे गये हैं। वे ज्ञानस्वरूप, जाननेयोग्य, ज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य और सबके हृदयमें विराजमान हैं।

व्याख्या—बारहवेंसे सत्रहवें श्लोकतक जिस ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन हुआ है, वह भगवान्‌का समग्ररूप ही है। कारण कि इसमें निर्गुण-निराकार (बारहवाँ श्लोक), सगुण-निराकार (तेरहवाँ श्लोक) और सगुण-साकार (सोलहवाँ श्लोक)—तीनों ही रूपोंका वर्णन हुआ है।

'ज्योति' नाम प्रकाश (ज्ञान)-का है। शब्दका प्रकाशक कान है। स्पर्शका प्रकाशक त्वचा है। रूपका प्रकाशक नेत्र है। रसका प्रकाशक जिह्वा है। गन्धका प्रकाशक नासिका है। इन पाँचों इन्द्रियोंका प्रकाशक मन है। मनका प्रकाशक बुद्धि है। बुद्धिका प्रकाशक स्वयं है। स्वयंका प्रकाशक परमात्मा है। स्वयंप्रकाश परमात्माका कोई भी प्रकाशक नहीं है। जैसे सूर्यमें अन्धकार कभी आता ही नहीं, ऐसे ही परम-प्रकाशक परमात्मामें अज्ञान कभी आता ही नहीं, आ सकता ही नहीं।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८॥

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेयको संक्षेपसे कहा गया है। मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे भावको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— समग्र परमात्माका ज्ञान वास्तवमें भक्तिसे ही हो सकता है। इसलिये साधकको भक्त होना चाहिये। क्षेत्रको तत्त्वसे जाननेपर क्षेत्रसे संबंध-विच्छेद हो जाता है। ज्ञान (साधन-समुदाय)-को तत्त्वसे जाननेपर देहाभिमान मिट जाता है। ज्ञेयको तत्त्वसे जाननेपर उसकी प्राप्ति हो जाती है।

यहाँ आये 'मद्भावायोपपद्यते' पदको गीतामें कई प्रकारसे कहा गया है; जैसे—'मद्भावमागताः' (४। १०), 'मम साधर्म्यमागताः' (१४। २),'मद्भावं सोऽधिगच्छति' (१४। १९) 'मद्भाव' का अर्थ है—मुझ परमात्माकी सत्ता। यह सिद्धान्त है कि सत्ता एक ही होती है, दो नहीं। भगवान्‌ने ज्ञान और भक्ति—दोनोंमें ही अपने भावकी प्राप्ति बतायी है। 'ज्ञान' में इसका तात्पर्य है—ब्रह्मसे साधर्म्य होना अर्थात् जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दरूप है, ऐसे ही ज्ञानी महापुरुषका भी सत्-चित्-आनन्दरूप होना। 'भक्ति' में इसका तात्पर्य है—भक्तकी भगवान्‌के साथ आत्मीयता अर्थात् अभिन्नता होना।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ १९॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

प्रकृति और पुरुष—दोनोंको ही तुम अनादि समझो और विकारोंको तथा गुणोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न समझो। कार्य और करणके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको उत्पन्न करनेमें प्रकृति हेतु कही जाती है और सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें पुरुष हेतु कहा जाता है।

व्याख्या—भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका ही प्रकृति और पुरुषके नामसे पुनः वर्णन करते हैं। शरीर तथा संसार प्रकृति-विभागमें और आत्मा तथा परमात्मा पुरुष-विभागमें हैं। जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं, ऐसे ही इनके भेदका ज्ञान अर्थात् विवेक भी अनादि है। अतः विवेक-दृष्टिसे देखें तो ये दोनों विभाग एक-दूसरेसे बिलकुल असम्बद्ध हैं।

विकृतिमात्र जड़में ही होती है, चेतनमें नहीं। अतः वास्तवमें सुखी-दुःखी होना चेतनका धर्म नहीं है, प्रत्युत जड़के संगसे अपनेको सुखी-दुःखी मानना चेतनका स्वभाव है। तात्पर्य है कि चेतन सुखी-दुःखी नहीं होता, प्रत्युत (सुखाकार-दुःखाकार वृत्तिसे मिलकर) अपनेको सुखी-दुःखी मान लेता है। चेतनमें एक-दूसरेसे विरुद्ध सुख-दुःखरूप दो भाव हो ही कैसे सकते हैं? दो भाव परिवर्तनशील प्रकृतिमें ही हो सकते हैं। जो अपरिवर्तनशील है, उसके दो भाव अथवा रूप नहीं हो सकते। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण विकार परिवर्तनशीलमें ही हो सकते हैं। चेतन स्वयं ज्यों-का-त्यों रहते हुए भी परिवर्तनशील प्रकृतिके संगसे उन विकारोंको अपनेमें आरोपित करता रहता है।

भगवान् शक्तिमान् हैं और प्रकृति उनकी शक्ति है। ज्ञानकी दृष्टिसे शक्ति और शक्तिमान्—दोनों अलग-अलग हैं; क्योंकि शक्तिमें तो परिवर्तन (घटना-बढ़ना) होता है, पर शक्तिमान् ज्यों-का-त्यों रहता है। परन्तु भक्तिकी दृष्टिसे देखें तो शक्ति और शक्तिमान् दोनों अभिन्न हैं; क्योंकि शक्तिको शक्तिमान्से अलग नहीं कर सकते अर्थात् शक्तिमान्के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ज्ञान और भक्ति—दोनोंकी बात रखनेके लिये ही भगवान्ने प्रकृतिको न अनन्त कहा है, न सान्त, प्रत्युत 'अनादि' कहा है। कारण कि यदि प्रकृतिको अनन्त (नित्य) कहें तो ज्ञानका खण्डन हो जायगा; क्योंकि ज्ञानकी दृष्टिसे प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं है—'नासतो विद्यते भावः' (गीता २। १६)। यदि प्रकृतिको सान्त (अनित्य) कहें तो भक्तिका खण्डन हो जायगा; क्योंकि भक्तिकी दृष्टिसे प्रकृति भगवान्की शक्ति होनेसे भगवान्से अभिन्न है—'सदसच्चाहम्' (गीता ९। १९)।

वास्तवमें परमात्माका स्वरूप 'समग्र' है। परमात्मामें कोई शक्ति न हो—ऐसा सम्भव ही नहीं है। यदि परमात्माको सर्वथा शक्तिरहित मानें तो परमात्मा एकदेशीय (सीमित) ही सिद्ध होंगे। उनमें शक्तिका परिवर्तन अथवा अदर्शन तो हो सकता है, पर शक्तिका अभाव नहीं हो सकता। शक्ति कारणरूपसे उनमें रहती ही है, अन्यथा परमात्माके सिवाय शक्ति (प्रकृति)-के रहनेका स्थान कहाँ होगा? इसलिये यहाँ प्रकृति और पुरुष—दोनोंको अनादि कहा गया है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २१॥

प्रकृतिमें स्थित पुरुष (जीव) ही प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता बनता है और गुणोंका संग ही इसके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बनता है।

व्याख्या— 'मैं' जड़ (प्रकृति) है और 'हूँ' चेतन (पुरुष) है। 'मैं हूँ'—यह जड़-चेतनका तादात्म्य है। इस 'मैं हूँ' में ही कर्तापन तथा भोक्तापन रहता है। यदि साधक 'मैं' को मिटा दे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। जैसे लोहे और अग्निमें तादात्म्य न रहनेसे लोहा पृथ्वीपर ही रह जाता है और अग्नि निराकार अग्नि-तत्त्वमें लीन हो जाती है, ऐसे ही 'मैं' (अहम्) तो प्रकृतिमें ही रह जाता है और 'हूँ' ('है' का स्वरूप होनेसे) 'है' में ही विलीन हो जाता है। मेरा कुछ नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिये—इन दो बातोंकी सिद्धि होते ही 'हूँ' सत्तामात्रमें अर्थात् 'है' में विलीन हो जाता है। तात्पर्य है कि 'मैं' (जड़-अंश) जड़में और 'हूँ' (चेतन-अंश) चेतन तत्त्वमें विलीन हो जाता है। इस प्रकार जड़-चेतनकी ग्रन्थि छूट जाती है और फिर एक 'है' (सत्तामात्र)-के सिवाय कुछ नहीं रहता। 'है' में कर्तापन और भोक्तापन नहीं है। तात्पर्य है कि भोगोंमें 'हूँ' खिंचता है, 'है' नहीं खिंचता। 'हूँ' ही कर्ता-भोक्ता बनता है, 'है' कर्ता-भोक्ता नहीं बनता। अतः साधक 'हूँ' को न मानकर 'है' को ही माने अर्थात् अनुभव करे।

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण कोई बाधा नहीं देते; परन्तु इनका संग करनेसे जीव ऊर्ध्वगति, मध्यगति अथवा अधोगतिमें जाता है। गुणोंका संग जीव स्वयं करता है। असंगता जीवका स्वरूप है—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृहदा० ४। ३। १५)। यदि जीव गुणोंका संग न करे तो जन्म-मरण हो ही नहीं सकता।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ २२॥

यह पुरुष (शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे) 'उपद्रष्टा', (उसके साथ मिलकर सम्मति, अनुमति देनेसे) 'अनुमन्ता', (अपनेको उसका भरण-पोषण करनेवाला माननेसे) 'भर्ता', (उसके संगसे सुख-दु:ख भोगनेसे) 'भोक्ता' और (अपनेको उसका स्वामी माननेसे) 'महेश्वर' बन जाता है। परन्तु (स्वरूपसे) यह पुरुष 'परमात्मा'—इस नामसे कहा जाता है। यह इस देहमें रहता हुआ भी देहसे पर (सर्वथा सम्बन्ध-रहित) ही है।

व्याख्या— **वास्तवमें पुरुष (चेतन) 'पर' ही है, पर अन्यके सम्बन्धसे वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता आदि बन जाता है। जैसे, मनुष्य पुत्रके सम्बन्धसे 'पिता,' पिताके सम्बन्धसे 'पुत्र', पत्नीके सम्बन्धसे 'पति', बहनके सम्बन्धसे 'भाई' आदि बन जाता है। ये सम्बन्ध अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये ही हैं, ममता करनेके लिये नहीं। वास्तविक स्वरूप तो 'पर' अर्थात् सर्वथा सम्बन्ध-रहित ही है।**

यहाँ उपद्रष्टा, अनुमन्ता आदि अनेक उपाधियोंका तात्पर्य एकतामें है कि चेतन-तत्त्व वास्तवमें एक ही है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २३॥

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य (अलग-अलग) जानता है, वह सब तरहका बर्ताव करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता।

व्याख्या—जो साधक पूर्वश्लोकमें आये 'देहेऽस्मिन् पुरुषः परः' के अनुसार अपनेको देहसे सर्वथा असंग अनुभव कर लेता है, वह अपने वर्ण-आश्रम आदिके अनुसार समस्त कर्तव्य-कर्म करते हुए भी पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता; क्योंकि पुनर्जन्म होनेमें गुणोंका संग ही कारण है (गीता १३। २१)। जैसे छाछसे निकला हुआ मक्खन पुनः छाछमें मिलकर दही नहीं बनता, ऐसे ही प्रकृतिजन्य गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर मनुष्य पुनः गुणोंसे नहीं बँधता (गीता ४। ३५)।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४॥

कई मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा, कई सांख्ययोगके द्वारा और कई कर्मयोगके द्वारा अपने-आपसे अपने-आपमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं।

व्याख्या— **जैसे पूर्वश्लोकमें विवेकके महत्त्वको मुक्तिका उपाय बताया, ऐसे ही यहाँ ध्यानयोग आदि अन्य मुक्तिके उपाय बताते हैं। गीतामें ध्यानयोगसे (६।२८), सांख्ययोगसे (२।१५) और कर्मयोगसे (२।७१)—तीनोंसे परमात्मप्राप्तिकी बात कही गयी है। ये तीनों परमात्मप्राप्तिके स्वतन्त्र साधन हैं।**

**अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥**

दूसरे मनुष्य इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग आदि साधनोंको) नहीं जानते, पर दूसरोंसे (जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे) सुनकर ही उपासना करते हैं, ऐसे वे सुननेके अनुसार आचरण करनेवाले मनुष्य भी मृत्युको तर जाते हैं।

व्याख्या— **जिन मनुष्योंमें शास्त्रोंको तथा उनमें वर्णित साधनोंको समझनेकी योग्यता नहीं है,जिनका विवेक कमजोर है, पर जिनके भीतर मृत्युसे तरने (मुक्ति)-की उत्कट अभिलाषा है, ऐसे मनुष्य भी जीवन्मुक्त सन्त-महात्माओंकी आज्ञाका पालन करके मृत्युको तर जाते हैं अर्थात् तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं।**

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २६॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! स्थावर और जंगम जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, उनको तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न हुए समझो।

व्याख्या— **चर-अचर, स्थावर-जंगम आदि जितने भी प्राणी हैं, वे सब-के-सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके सम्बन्धसे ही पैदा होते हैं। क्षेत्रज्ञ (प्रकृतिस्थ पुरुष) शरीरको मैं, मेरा, तथा मेरे लिये मान लेता है—यही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग है।**

पूर्वपक्ष— **संयोग सजातीयतामें ही होता है, फिर विजातीय क्षेत्र (जड़)-के साथ क्षेत्रज्ञ (चेतन)-का संयोग कैसे सम्भव है?**

उत्तरपक्ष—**ठीक है, जैसे अंधकार और सूर्यका संयोग नहीं हो सकता, ऐसे ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भी संयोग नहीं हो सकता, तथापि परमात्माका अंश होनेके कारण क्षेत्रज्ञ (जीव)-में यह शक्ति है कि वह विजातीय वस्तुको भी पकड़ सकता है,उसके साथ अपना सम्बन्ध मान सकता है। उसे यह स्वतन्त्रता परमात्माके द्वारा प्रदत्त है। इस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके ही क्षेत्रज्ञने संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया और जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गया (गीता १३। २१)।**

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २७॥

जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समरूपसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है।

व्याख्या—जैसे—आकाशमें कभी सूर्यका प्रकाश फैल जाता है, कभी रातका अँधेरा छा जाता है, कभी धुआँ छा जाता है, कभी बादल छा जाते हैं, कभी बिजली चमकती है, कभी वर्षा होती है, कभी ओले गिरते हैं, कभी गर्जना होती है; परन्तु आकाशमें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह ज्यों-का-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहता है। इसी प्रकार सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मसत्तामें कभी महासर्ग और महाप्रलय होता है, कभी सर्ग और प्रलय होता है, कभी जन्म और मृत्यु होती है, कभी अकाल पड़ता है, कभी बाढ़ आती है, कभी भूकम्प आता है, कभी घमासान युद्ध होता है; परन्तु सत्ता ज्यों-की-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहती है। बद्ध हो या मुक्त, पापी हो या धर्मात्मा, यह निर्विकार सत्ता दोनोंमें समानरूपमें स्थित रहती है।

प्रतिक्षण विनाशकी तरफ जानेवाले प्राणियोंमें विनाशरहित, सदा एकरूप रहनेवाले परमात्माको जो निर्लिप्त-निर्विकार देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है। तात्पर्य है कि जो परिवर्तनशील, नाशवान् शरीरके साथ स्वयंको देखता है, उसका देखना सही नहीं है। परन्तु जो सदा ज्यों-के-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहनेवाले परमात्मतत्त्वके साथ स्वयंको अभिन्नरूपसे देखता है, उसका देखना ही सही है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २८॥

क्योंकि सब जगह समरूपसे स्थित ईश्वरको समरूपसे देखनेवाला मनुष्य अपने-आपसे अपनी हिंसा नहीं करता, इसलिये वह परम गतिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—जो मनुष्य स्थावर-जंगम, चर-अचर आदि सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानरूपसे परिपूर्ण परमात्मतत्त्वके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करता है, वह अपने द्वारा अपनी हत्या नहीं करता। शरीरके जन्म, मृत्यु, रोग आदि विकारोंको अपने विकार मानना ही अपने द्वारा अपनी हत्या करना अर्थात् अपनेको जन्म-मृत्युके चक्करमें डालना है।

वास्तवमें सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें आत्माका ही वर्णन है, परन्तु 'परमेश्वर' तथा 'ईश्वर' नाम आनेसे इन श्लोकोंकी व्याख्यामें परमात्माका वर्णन किया गया है; क्योंकि आत्माका परमात्मासे साधर्म्य है (गीता १३। २२)।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥

जो सम्पूर्ण क्रियाओंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही की जाती हुई देखता है और अपने-आपको अकर्ता देखता (अनुभव करता) है, वही यथार्थ देखता है।

व्याख्या— जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, वे सब-की-सब प्रकृति-विभागमें ही होती हैं। प्रकृतिके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको ही गीतामें कहीं गुणोंसे होनेवाली और कहीं इन्द्रियोंसे होनेवाली क्रियाएँ कहा गया है; जैसे—सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' (३। २७); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (३। २८); गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं—'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति' (१४। १९); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयमें बरत रही हैं—'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' (५। ९) आदि।

तात्पर्य है कि क्रियामात्र प्रकृतिजन्य ही है। अतः प्रकृति कभी किंचिन्मात्र भी अक्रिय नहीं होती और पुरुषमें कभी किंचिन्मात्र भी क्रिया नहीं होती। इसलिये गीतामें आया है कि तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी 'मैं (स्वयं) लेशमात्र भी कुछ नहीं करता हूँ' ऐसा अनुभव करता है—'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (५। ८) स्वयं न करता है, न करवाता है—'नैव कुर्वन्न कारयन्' (५। १३); यह पुरुष शरीरमें रहता हुआ भी न करता है, न लिप्त होता है—'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (१३। ३१); जो आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है—'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं……' (१८। १६) आदि।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३०॥

जिस कालमें साधक प्राणियोंके अलग-अलग भावोंको एक प्रकृतिमें ही स्थित देखता है और उस प्रकृतिसे ही उन सबका विस्तार देखता है, उस कालमें वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— **सृष्टिके सम्पूर्ण प्राणियोंके स्थूल-सूक्ष्म तथा कारणशरीर एक प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं, प्रकृतिमें ही स्थित रहते हैं और प्रकृतिमें ही लीन होते हैं—इस प्रकार देखनेवाला ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है अर्थात् प्रकृतिसे अतीत स्वतःसिद्ध अपने स्वरूप परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है।**

**अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ ३१ ॥**

हे कुन्तीनन्दन! यह (पुरुष स्वयं) अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्म-स्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।

व्याख्या— जैसे मकानमें रहते हुए भी हम मकानसे अलग हैं, ऐसे ही शरीरमें रहते हुए माननेपर भी हम स्वयं शरीरसे अलग हैं। स्वयं अनादि है, पर शरीर आदिवाला है। स्वयं निर्गुण है, पर शरीर गुणमय है। स्वयं परमात्मा है, पर शरीर अनात्मा है। स्वयं अव्यय है, पर शरीर नाशवान् है। इसलिये अज्ञानी मनुष्यके द्वारा स्वयंको शरीरमें स्थित माननेपर भी वास्तवमें वह शरीरमें स्थित नहीं है अर्थात् शरीरसे सर्वथा असम्बद्ध है—'न करोति न लिप्यते'। कारण कि शरीरका सम्बन्ध तो संसारके साथ है, पर स्वयंका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। अतः वास्तवमें स्वयं कभी शरीरस्थ हो सकता ही नहीं; परन्तु इस वास्तविकताकी तरफ ध्यान न देनेके कारण मनुष्य स्वयंको शरीरस्थ मान लेता है।

'न करोति न लिप्यते'—यह साधनजन्य नहीं है, प्रत्युत स्वतः स्वाभाविक है। तात्पर्य है कि स्वयंमें लेशमात्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—यह स्वतःसिद्ध बात है। इसमें कोई पुरुषार्थ नहीं है अर्थात् इसके लिये कुछ करना नहीं है। अतः कर्तृत्व-भोक्तृत्वको मिटाना नहीं है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार नहीं करना है, इनके अभावका अनुभव करना है; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं ही नहीं! इसलिये साधकको अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अनुभव करना चाहिये। अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अनुभव होना ही जीवन्मुक्ति है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३२॥

जैसे सब जगह व्याप्त आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे कहीं भी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही सब जगह परिपूर्ण आत्मा किसी भी देहमें लिप्त नहीं होता।

व्याख्या—चिन्मय सत्ता एक ही है, पर अहंताके कारण वह अलग-अलग दीखती है। अपरा प्रकृतिके अंश 'अहम्' को पकड़नेके कारण यह जीव 'अंश' कहलाता है (गीता १५।७)। अगर यह अहम्‌को न पकड़े तो एक सत्ता-ही-सत्ता है। सत्ताके सिवाय सब कल्पना है। वह चिन्मय सत्ता सब कल्पनाओंका आधार, अधिष्ठान, प्रकाशक और आश्रय है। उस सत्तामें एकदेशीयपना नहीं है। वह चिन्मय सत्ता सर्वव्यापक है। सम्पूर्ण सृष्टि (क्रियाएँ और पदार्थ) उस सत्ताके अन्तर्गत है। सृष्टि तो उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। तात्पर्य है कि चिन्मय सत्ता न शरीरस्थ है और न प्रकृतिस्थ है, प्रत्युत आकाशकी तरह सर्वत्र स्थित (सर्वगत) है—'नित्यः सर्वगतः' (गीता २।२४)। वह सम्पूर्ण शरीरोंके बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। वह सर्वव्यापी सत्ता ही हमारा स्वरूप है और वही परमात्मतत्त्व है।

सत्तामें एकदेशीयता अहम्‌के कारण दीखती है। वह अहम् सुखलोलुपतापर टिका हुआ है। साधन करते हुए भी साधक जहाँ है, वहीं सुख भोगने लग जाता है—'सुखसङ्गेन बध्नाति' (गीता १४।६)। यह सुखलोलुपता गुणातीत होनेतक रहती है। अतः इसमें साधकको बहुत सावधान रहना चाहिये और सावधानीपूर्वक सुखलोलुपतासे बचना चाहिये।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३३॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! जैसे एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करता है, ऐसे ही क्षेत्रज्ञ (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है।

व्याख्या— जैसे, सूर्यके प्रकाशमें सम्पूर्ण शुभ-अशुभ क्रियाएँ होती हैं। सूर्यके प्रकाशमें कोई वेदका पाठ करता है, कोई शिकार करता है। परन्तु सूर्यको उन क्रियाओंका न पुण्य लगता है, न पाप। कारण कि सूर्य उन क्रियाओंका न तो कर्ता बनता है, न भोक्ता ही बनता है। इसी प्रकार आत्मा (सर्वव्यापी सत्ता) सम्पूर्ण शरीरोंको सत्ता-स्फूर्ति तो देता है, पर वास्तवमें वह न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है (गीता १८। १७), तात्पर्य है कि स्वयंमें प्रकाशकत्वका अभिमान नहीं है।

करनेकी जिम्मेवारी उसीपर होती है, जो कुछ कर सकता है। जैसे, कितना ही चतुर चित्रकार हो, बिना सामग्री (रंग, ब्रश आदि)-के वह चित्र नहीं बना सकता, ऐसे ही पुरुष (चेतन) प्रकृति (जड़ शरीरादि) की सहायताके बिना कुछ नहीं कर सकता। इसलिये कुछ-न-कुछ करनेमें ही शरीरका उपयोग है। यदि हम कुछ भी न करना चाहें तो शरीरका क्या उपयोग है? कुछ भी उपयोग नहीं है। यदि हम कुछ भी देखना न चाहें तो आँख हमारे क्या काम आयी? कुछ भी सुनना न चाहें तो कान हमारे क्या काम आया? स्थूल क्रिया करनेमें स्थूलशरीर काम आता है। चिन्तन, मनन, ध्यान आदि करनेमें सूक्ष्मशरीर काम आता है। स्थिरता, समाधिमें कारणशरीर काम आता है। शरीर और उसके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ संसारके ही काम आती हैं। हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है; अतः उसके लिये तीनों शरीर और उसकी क्रियाएँ कुछ काम नहीं आतीं। चिन्मय सत्तामात्रमें कोई कमी नहीं आती; क्योंकि सत्ता एक ही हो सकती है, दो हो सकती ही नहीं। अतः हमें किसी साथीकी जरूरत नहीं है। इस प्रकार न तो क्रियाके साथ सम्बन्ध (कर्तृत्व) हो, न अप्राप्त वस्तुके साथ सम्बन्ध (कामना) हो और न प्राप्त वस्तुके साथ सम्बन्ध (ममता) हो तो प्रकृतिके साथ तादात्म्य नहीं रहेगा। प्रकृतिसे तादात्म्य न रहनेपर प्रकृतिमें क्रिया तो रहती है, पर कोई कर्ता और भोक्ता नहीं रहता।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३४॥

इस प्रकार जो ज्ञानरूपी नेत्रोंसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको तथा कार्य-कारणसहित प्रकृतिसे स्वयंको अलग जानते हैं, वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या— **क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान 'विवेक' कहलाता है। जो साधक इस विवेकको महत्त्व देकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको ठीक-ठीक जान लेते हैं तथा प्रकृति और उसके कार्य (शरीर)-को स्वयंसे सर्वथा अलग अनुभव कर लेते हैं, वे चिन्मय परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं। उनकी दृष्टिमें एक चिन्मय तत्त्वके सिवाय कुछ नहीं रहता।**

सम्पूर्ण क्रियाएँ क्षेत्र अर्थात् जड़-विभागमें ही होती हैं। क्षेत्रज्ञ अर्थात् चेतन-विभागमें कभी किञ्चिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती। स्थूलशरीर तथा उससे होनेवाली क्रियाएँ, सूक्ष्मशरीर तथा उससे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीर तथा उससे होनेवाली स्थिरता व समाधि—ये सभी जड़-विभागमें ही हैं। कामना, ममता, अहंता आदि सम्पूर्ण विकार जड़-विभागमें ही हैं। सम्पूर्ण पाप, ताप भी जड़-विभागमें ही हैं। पराश्रय तथा परिश्रम—ये दोनों जड़-विभागमें हैं। भगवदाश्रय और विश्राम—ये दोनों चेतन-विभागमें हैं। जड़ और चेतनके विभागको अलग-अलग जानना ही 'ज्ञान' है। इस ज्ञानरूपी अग्निसे सम्पूर्ण पाप सर्वथा नष्ट हो जाते हैं (गीता ४। ३६-३७)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्याय:॥ १३॥
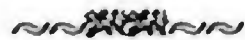
ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

चौदहवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—सम्पूर्ण ज्ञानोंमें उत्तम और श्रेष्ठ ज्ञानको मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सब-के-सब मुनिलोग इस संसारसे (मुक्त होकर) परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं।

व्याख्या—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान सम्पूर्ण लौकिक-पारमार्थिक ज्ञानोंसे उत्तम तथा सर्वोत्कृष्ट है। यह ज्ञान परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका निश्चित उपाय है, इसलिये इस ज्ञानको प्राप्त करनेवाले सब-के-सब साधक परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते अर्थात् मुक्त हो जाते हैं। मुक्त होनेपर क्रिया (परिश्रम) तथा पदार्थ (पराश्रय)-का अत्यन्त अभाव हो जाता है और एक चिन्मय सत्ता (विश्राम)-के सिवाय कोई जड़ वस्तु रहती ही नहीं, जो वास्तवमें है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस ज्ञानका आश्रय लेकर जो मनुष्य मेरी सधर्मताको प्राप्त हो गये हैं, वे महासर्गमें भी पैदा नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते।

व्याख्या— कारणशरीरके सम्बन्धसे 'निर्विकल्प स्थिति' होती है और कारणशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर (स्वयंमें)'निर्विकल्प बोध' होता है। निर्विकल्प स्थिति तो सविकल्पमें बदल सकती है, पर निर्विकल्प बोध सविकल्पमें कभी नहीं बदलता। तात्पर्य है कि निर्विकल्प स्थितिमें तो परिवर्तन होता है, पर निर्विकल्प बोधमें कभी परिवर्तन नहीं होता, वह महासर्ग अथवा महाप्रलय होनेपर भी सदा ज्यों-का-त्यों रहता है।

महासर्ग और महाप्रलय प्रकृतिमें होते हैं। प्रकृतिसे अतीत तत्त्व (परमात्मा)-की प्राप्ति होनेपर महासर्ग और महाप्रलयका कोई असर नहीं पड़ता; क्योंकि ज्ञानी महापुरुषका प्रकृतिसे सम्बन्ध ही नहीं रहता। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेको 'आत्यन्तिक प्रलय' भी कहा गया है। तात्पर्य है कि प्रकृतिके कार्य शरीरको पकड़नेसे मनुष्य परतन्त्र हो जाता है, जन्म-मरणमें पड़ जाता है; परन्तु शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर वह स्वतन्त्र हो जाता है, निरपेक्ष-जीवन हो जाता है, सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है। वह परमात्माकी सधर्मताको प्राप्त हो जाता है अर्थात् जैसे परमात्मा सत्-चित्-आनन्दरूप हैं, ऐसे ही वह ज्ञानी महापुरुष भी सत्-चित्-आनन्दरूप हो जाता है, जो कि वास्तवमें वह पहलेसे ही था!

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! मेरी मूल प्रकृति तो उत्पत्ति-स्थान है और मैं उसमें जीवरूप गर्भका स्थापन करता हूँ। उससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है।

व्याख्या— जीव जबतक मुक्त नहीं होता, तबतक प्रकृतिके अंश कारणशरीरसे उसका सम्बन्ध बना रहता है और वह महाप्रलयमें कारणशरीरसहित ही प्रकृतिमें लीन होता है। जब उस जीवके कर्म परिपक्व होकर फल देनेके लिये उन्मुख होते हैं, तब महासर्गके आदिमें भगवान् उसका प्रकृतिके साथ पुनः विशेष सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

हे कुन्तीनन्दन! सम्पूर्ण योनियोंमें (प्राणियोंके) जितने शरीर पैदा होते हैं, मूल प्रकृति तो उन सबकी माता है और मैं बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ।

व्याख्या— चौरासी लाख योनियाँ, देवता, पितर, गन्धर्व, भूत-प्रेत, पिशाच, स्थावर-जंगम, जलचर-थलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-उद्भिज्ज-स्वेदज आदि सम्पूर्ण योनियोंके जितने भी मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त शरीर हैं, उन सबमें भगवान् अपने चेतन-अंशरूप बीजको स्थापित करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणीमें स्थित परमात्माका अंश शरीरोंकी भिन्नतासे ही भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक ही परमात्मतत्त्व विद्यमान है (गीता १३। २)।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

हे महाबाहो! प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण अविनाशी देही (जीवात्मा)-को देहमें बाँध देते हैं।

व्याख्या— **प्रकृतिसे उत्पन्न होनेके कारण सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृति-विभागमें ही हैं। परन्तु प्रकृतिके कार्य शरीरसे अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण ये गुण अविनाशी चेतनको नाशवान्, जड़ शरीरमें बाँध देते हैं अर्थात् 'मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है'—ऐसा देहाभिमान उत्पन्न कर देते हैं। तात्पर्य है कि सभी विकार प्रकृतिके सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं। चिन्मय सत्तामात्र स्वरूपमें कोई भी विकार नहीं है—** 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' **(बृहदारण्यक० ४। ३। १५),** 'देहेऽस्मिन्पुरुषः परः' (गीता १३। २२)। **विकारोंके कारण ही जन्म-मरण होता है।**

वास्तवमें गुण जीवको नहीं बाँधते, प्रत्युत जीव ही उनका संग करके बँध जाता है। अगर गुण बाँधनेवाले होते तो गुणोंके रहते हुए कोई उनसे छूट सकता ही नहीं, गुणातीत (जीवन्मुक्त) हो सकता ही नहीं!

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥

हे पापरहित अर्जुन! उन गुणोंमें सत्त्वगुण निर्मल (स्वच्छ) होनेके कारण प्रकाशक और निर्विकार है। वह सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानकी आसक्तिसे (देहीको) बाँधता है।

व्याख्या— गुणातीत होनेके बहुत समीप होनेके कारण सत्त्वगुणको अनामय (निर्विकार) कहा गया है। परन्तु सुख और ज्ञानके संगके कारण वह विकारी हो जाता है; क्योंकि संग रजोगुणका स्वरूप है। सुख और ज्ञान बाधक नहीं हैं, प्रत्युत उनका संग बाधक है। संग है— उनको अपना मान लेना। वास्तवमें सत्त्वगुण अपना है ही नहीं, वह तो प्रकृतिका है। अतः जबतक संग रहता है, तबतक मुक्ति नहीं होती; क्योंकि स्वरूप असंग है।

सात्त्विक सुख और सात्त्विक ज्ञान भी स्वयंके नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृतिजन्य होनेसे 'पर' के अर्थात् पराधीन हैं। इनमें पराधीनताका सुख है, स्वरूपका सुख नहीं।

सात्त्विक ज्ञानमें तो 'मैं ज्ञानी हूँ'—यह संग रहता है, पर तत्त्वज्ञान सर्वथा असंग है अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर 'मैं ज्ञानी हूँ'—यह संग नहीं रहता। सात्त्विक ज्ञानमें द्रष्टा रहता है और अपनेमें विशेषताका भान होता है, परन्तु तत्त्वज्ञानमें कोई द्रष्टा नहीं रहता और अपनेमें कोई कमी भी नहीं रहती तथा (व्यक्तित्व न रहनेसे) विशेषताका भान भी नहीं होता।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

हे कुन्तीनन्दन! तृष्णा और आसक्तिको पैदा करनेवाले रजोगुणको तुम रागस्वरूप समझो। वह कर्मोंकी आसक्तिसे देही (जीवात्मा)-को बाँधता है।

व्याख्या— **रजोगुण रागस्वरूप है अर्थात् किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें जो प्रियता उत्पन्न होती है, वह प्रियता रजोगुण है। रजोगुण कर्मोंके संग (आसक्ति)-से मनुष्यको बाँधता है। अतः सात्त्विक कर्म भी संग होनेसे बाँधनेवाले हो जाते हैं। यदि संग न हो तो कर्म बन्धनकारक नहीं होते। इसलिये कर्मयोगसे मुक्ति हो जाती है; क्योंकि कर्मोंका और उनके फलोंका संग न होनेसे ही कर्मयोग होता है (गीता ६।४)।**

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥

और हे भरतवंशी अर्जुन! सम्पूर्ण देहधारियोंको मोहित करनेवाले तमोगुणको तुम अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला समझो। वह प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा (देहके साथ अपना सम्बन्ध माननेवालोंको) बाँधता है।

व्याख्या— **सत्त्वगुण और रजोगुण तो संग (सुखासक्ति)-से बाँधते हैं, पर तमोगुण स्वरूपसे ही बाँधनेवाला है। ये तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं और जीव स्वयं प्रकृति और उसके कार्य गुणोंसे सर्वथा रहित है। परन्तु गुणोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेके कारण स्वयं गुणातीत होते हुए भी गुणोंसे बँध जाता है।**

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥ ९॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! सत्त्वगुण सुखमें और रजोगुण कर्ममें लगाकर मनुष्यपर विजय करता है। परन्तु तमोगुण ज्ञानको ढककर एवं प्रमादमें लगाकर मनुष्यपर विजय करता है।

व्याख्या—सत्त्वगुण केवल सुख होनेपर विजय नहीं करता, प्रत्युत सुखका संग होनेपर विजय करता है—'सुखसङ्गेन बध्नाति' (गीता १४। ६)। इसी तरह रजोगुण भी कर्मका संग होनेपर विजय करता है—'तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्' (गीता १४। ७)। परन्तु तमोगुण स्वरूपसे ही विजय करता है। इसलिये तमोगुणमें 'संग' शब्द नहीं आया है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है, सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण बढ़ता है, वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है।

व्याख्या— **दो गुणोंको दबाकर एक गुण बढ़ता है, बढ़ा हुआ गुण मनुष्यपर विजय करता है और विजय करके मनुष्यको बाँध देता है। जो गुण बढ़ता है, उसकी मुख्यता हो जाती है और दूसरे गुणोंकी गौणता हो जाती है। यह गुणोंका स्वभाव है।**

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ ११॥

जब इस मनुष्यशरीरमें सब द्वारों (इन्द्रियों और अन्तःकरण)-में प्रकाश (स्वच्छता) और विवेक प्रकट हो जाता है, तब यह जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है।

व्याख्या— 'प्रकाश' और 'ज्ञान'—दोनोंमें भेद है। 'प्रकाश' का अर्थ है—इन्द्रियों और अन्तःकरणमें जागृति अर्थात् रजोगुणसे होनेवाला मनोराज्य तथा तमोगुणसे होनेवाले निद्रा, आलस्य और प्रमाद न होकर स्वच्छता होना। 'ज्ञान' का अर्थ है—विवेक अर्थात् सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य आदिका ज्ञान होना। प्रकाश और ज्ञान आनेपर साधक उनको अपना गुण मानकर अभिमान न करे, प्रत्युत उनको सत्त्वगुणका ही कार्य माने और विशेषरूपसे भजन-ध्यान आदिमें लग जाय। कारण कि ऐसे समयमें किये गये साधनसे अधिक लाभ हो सकता है।

लोभ: प्रवृत्तिरारम्भ: कर्मणामशम: स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥

हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा—ये वृत्तियाँ पैदा होती हैं।

व्याख्या— जब रजोगुण बढ़ता है तब लोभ, प्रवृत्ति आदि वृत्तियाँ बढ़ती हैं। अत: ऐसे समय साधकको यह विचार करना चाहिये कि जब अनन्त ब्रह्माण्डोंमें लेशमात्र भी कोई वस्तु अपनी नहीं है, सब वस्तुएँ मिलने-बिछुड़नेवाली हैं, फिर अपने लिये क्या चाहिये? ऐसा विचार करके रजोगुणकी वृत्तियोंको मिटा दे, उनसे उदासीन हो जाय।

रजोगुण असंगताका विरोधी है—'रजो रागात्मकं विद्धि' (गीता १४।७)। मनुष्य क्रिया और पदार्थसे असंग होनेपर ही योगारूढ़ होता है (गीता ६।४)। परन्तु क्रिया और पदार्थका संग करनेके कारण रजोगुण मनुष्यको योगारूढ़ नहीं होने देता।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥

हे कुरुनन्दन! तमोगुणके बढ़नेपर अप्रकाश, अप्रवृत्ति तथा प्रमाद और मोह—ये वृत्तियाँ भी पैदा होती हैं।

व्याख्या—भगवान् पूर्वोक्त तीन श्लोकोंमें क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका वर्णन करके साधकको सावधान करते हैं कि गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही गुणोंमें होनेवाली वृत्तियाँ उसे अपनेमें प्रतीत होती हैं। वास्तवमें साधकका इन वृत्तियोंके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। गुण तथा गुणोंकी वृत्तियाँ प्रकृतिका कार्य होनेसे परिवर्तनशील हैं और स्वयं परमात्माका अंश होनेसे अपरिवर्तनशील है। परिवर्तनशीलके साथ अपरिवर्तनशीलका सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥ १४॥

जिस समय सत्त्वगुण बढ़ा हो, उस समय यदि देहधारी मनुष्य मर जाता है तो वह उत्तमवेत्ताओंके निर्मल लोकोंमें जाता है।

व्याख्या— गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली वृत्तियाँ कर्मोंकी अपेक्षा कमजोर नहीं हैं। सात्त्विक वृत्ति भी पुण्यकर्मोंके समान ही श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह हुआ कि शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंमें भी भावका ही महत्त्व है, पुण्यकर्मका नहीं। पदार्थ, क्रिया, भाव और उद्देश्य—ये चारों उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

यदि उत्तमवेत्ता (विवेकवान्) मनुष्य सत्त्वगुणको अपना मानते हुए उसमें रमण न करे और भगवान्‌के सम्मुख रहे तो वह सत्त्वगुणसे भी असंग (गुणातीत) होकर भगवान्‌के परमधामको चला जायगा, अन्यथा सत्त्वगुणका सम्बन्ध रहनेपर वह ब्रह्मलोकतकके ऊँचे लोकोंतक ही जायगा।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ १५॥

रजोगुणके बढ़नेपर मरनेवाला प्राणी कर्मसंगी मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरनेवाला मूढ़ योनियोंमें जन्म लेता है।

व्याख्या—जिसने जीवनभर अच्छे कर्म किये हैं, जिसके अच्छे भाव रहे हैं, वह यदि अन्तकालमें रजोगुणके बढ़नेपर मर जाता है तो मनुष्ययोनिमें जन्म लेनेपर भी उसके आचरण, भाव अच्छे रहेंगे। इसी प्रकार अच्छे कर्म करनेवाला यदि अन्तकालमें तमोगुणके बढ़नेपर मर जाता है तो पशु, पक्षी आदि मूढ़योनिमें जन्म लेनेपर भी उसके आचरण, भाव अच्छे ही रहेंगे।

रजोगुणमें 'राग'-अंश ही जन्म-मरण देनेवाला है, 'क्रिया'- अंश नहीं। पदार्थ, क्रिया अथवा व्यक्ति, किसीमें भी राग हो जायगा तो वह मनुष्ययोनिमें जन्म लेगा। मनुष्य स्वाभाविक कर्मसंगी है; क्योंकि नये कर्म करनेका अधिकार मनुष्ययोनिमें ही है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥

विवेकी पुरुषोंने शुभ कर्मका तो सात्त्विक निर्मल फल कहा है, राजस कर्मका फल दुःख कहा है और तामस कर्मका फल अज्ञान (मूढ़ता) कहा है।

व्याख्या—वास्तवमें कर्म सात्त्विक-राजस-तामस नहीं होते, प्रत्युत कर्ता ही सात्त्विक-राजस-तामस होता है। जैसा कर्ता होता है, उसके द्वारा वैसे ही कर्म होते हैं। जैसे कर्म होते हैं, वैसा ही भाव दृढ़ होता है। जैसा भाव होता है, उसके अनुसार ही अन्तकालीन चिन्तन होता है। अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार ही गति होती है (गीता ८।६)।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥

सत्त्वगुणसे ज्ञान और रजोगुणसे लोभ (आदि) ही उत्पन्न होते हैं। तमोगुणसे प्रमाद, मोह एवं अज्ञान भी उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या—ज्ञान (विवेक) सत्त्वगुणसे प्रकट होता है और संग न करनेपर बढ़ते-बढ़ते तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। परन्तु रजोगुण-तमोगुणसे होनेवाले लोभ, प्रमाद, मोह, अज्ञान बढ़ते हैं तो कोई नुकसान बाकी नहीं रहता, कोई दुःख बाकी नहीं रहता, कोई मूढ़योनि बाकी नहीं रहती, कोई नरक बाकी नहीं रहता !

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

सत्त्वगुणमें स्थित मनुष्य ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं, रजोगुणमें स्थित मनुष्य मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं और निन्दनीय तमोगुणकी वृत्तिमें स्थित तामस मनुष्य अधोगतिमें जाते हैं।

व्याख्या— **सात्त्विक, राजस अथवा तामस मनुष्यकी गति तो अन्तिम चिन्तनके अनुसार होगी, पर सुख-दुःखका भोग उनके कर्मोंके अनुसार ही होगा। उदाहरणार्थ, किसीके कर्म तो अच्छे हैं, पर अन्तिम चिन्तन पशुका हो गया तो अन्तिम चिन्तनके अनुसार वह पशु बन जायगा, परन्तु उस पशुयोनिमें भी उसे कर्मोंके अनुसार बहुत सुख-आराम मिलेगा। इसी प्रकार किसीके कर्म तो बुरे हैं, पर अन्तिम चिन्तनके अनुसार वह मनुष्य बन गया तो उस मनुष्ययोनिमें भी उसे कर्मोंके अनुसार दुःख, शोक, रोग आदि मिलेंगे।**

आधुनिक वेदान्तमें आया है कि सत्त्वगुणसे पुण्य तथा रजोगुणसे पाप उत्पन्न होता है; किन्तु तमोगुणसे आयु वृथा होती है—

सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः।
तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुःक्षपणं भवेत्॥
(पंचदशी २। १५)

परन्तु यह बात गीतासे विरुद्ध पड़ती है। भगवान् यहाँ कहते हैं कि तमोगुणसे मनुष्यको अधोगतिकी प्राप्ति होती है—'अधो गच्छन्ति तामसाः'**। पहले भी भगवान्ने कहा है—**'तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते' **(१४। १५)।**

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥

जब विवेकी (विचार-कुशल) मनुष्य तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और अपनेको गुणोंसे पर अनुभव करता है, तब वह मेरे सत्स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— **सम्पूर्ण क्रियाओंके होनेमें गुण ही कारण हैं, अन्य कोई कारण नहीं है। विवेकशील साधक जिससे गुण प्रकाशित होते हैं, उस प्रकाशकमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव करता है अर्थात् अपनेको गुणों (क्रियाओं और पदार्थों)-से असंग अनुभव करता है। गुणोंसे असंग अनुभव करनेपर वह योगारूढ़ हो जाता है (गीता ६।४)। योगारूढ़ होनेसे शान्तिकी प्राप्ति होती है और उस शान्तिमें न अटकनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।**

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

देहधारी (विवेकी मनुष्य) देहको उत्पन्न करनेवाले इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण करके जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थारूप दुःखोंसे रहित हुआ अमरताका अनुभव करता है।

व्याख्या— मनुष्यमात्रके भीतर यह भाव रहता है कि मैं बना रहूँ, कभी मरूँ नहीं। वह अमर रहना चाहता है। अमरताकी इस इच्छासे सिद्ध होता है कि वास्तवमें वह अमर है। यदि वह अमर न होता तो उसमें अमरताकी इच्छा भी नहीं होती। उदाहरणार्थ, हमें भूख और प्यास लगती है तो इससे सिद्ध होता है कि ऐसी वस्तु (अन्न और जल) है, जिससे भूख और प्यास मिट जाती है। यदि अन्न-जल न होते तो भूख-प्यास भी नहीं लगती। अतः अमरता स्वतःसिद्ध है (गीता ८। १९)। परन्तु जब मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व न देकर शरीरके साथ तादात्म्य कर लेता है अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' ऐसा मान लेता है, तब उसमें मृत्युका भय और अमरताकी इच्छा पैदा हो जाती है। जब वह अपने विवेकको महत्त्व देता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ; शरीर तो निरन्तर मृत्युमें रहता है और मैं स्वयं निरन्तर अमरतामें रहता हूँ' तब उसे अपनी स्वतःसिद्ध अमरताका अनुभव हो जाता है। अतः साधकको चाहिये कि वह जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था आदि शरीरके विकारोंको मुख्यता न देकर अपनी चिन्मय सत्ता (होनेपन)-को ही मुख्यता दे।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ २१॥

अर्जुन बोले—हे प्रभो! इन तीनों गुणोंसे अतीत हुआ मनुष्य किन लक्षणोंसे युक्त होता है? उसके आचरण कैसे होते हैं? और इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण कैसे किया जा सकता है?

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ २२॥

श्रीभगवान् बोले—हे पाण्डव! प्रकाश और प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो इनकी इच्छा नहीं करता।

व्याख्या—वृत्तियाँ एक समान किसीकी भी नहीं रहतीं। तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ तो गुणातीत महापुरुषके अन्तःकरणमें भी होती हैं,पर उसका उन वृत्तियोंसे राग-द्वेष नहीं होता। वृत्तियाँ अपने-आप आती और चली जाती हैं। गुणातीत महापुरुषकी दृष्टि उधर जाती ही नहीं; क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक परमात्मतत्त्वके सिवाय और कुछ रहता ही नहीं।

गुणातीत महापुरुषमें 'अनुकूलता बनी रहे, प्रतिकूलता मिट जाय'—ऐसी इच्छा नहीं होती। निर्विकारताका अनुभव होनेपर उसे अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान तो होता है, पर स्वयंपर उनका असर नहीं पड़ता। अन्तःकरणमें वृत्तियाँ बदलती हैं, पर स्वयं उनसे निर्लिप्त रहता है। साधकपर भी वृत्तियोंका असर नहीं पड़ना चाहिये; क्योंकि गुणातीत मनुष्य साधकका आदर्श होता है, साधक उसका अनुयायी होता है।

साधकमात्रके लिये यह आवश्यक है कि वह शरीरका धर्म अपनेमें न माने। वृत्तियाँ अन्तःकरणमें हैं, अपनेमें नहीं। अतः साधक वृत्तियोंको न तो अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें ही माने। कारण कि वृत्तियाँ तो आने-जानेवाली हैं, पर स्वयं निरन्तर रहनेवाला है। वृत्तियाँ हममें नहीं होतीं, प्रत्युत अन्तःकरणमें ही होती हैं। यदि वृत्तियाँ हममें होतीं तो जबतक हम रहते, तबतक वृत्तियाँ भी रहतीं। परन्तु यह सबका अनुभव है कि हम तो निरन्तर रहते हैं, पर वृत्तियाँ आती-जाती रहती हैं। वृत्तियोंका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है और हमारा (स्वयंका) सम्बन्ध परमात्माके साथ है। इसलिये वृत्तियोंके परिवर्तनका अनुभव करनेवाला स्वयं एक ही रहता है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥

जो उदासीनकी तरह स्थित है और जो गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—इस भावसे जो (अपने स्वरूपमें ही) स्थित रहता है और स्वयं कोई भी चेष्टा नहीं करता।

व्याख्या— तीन विभाग हैं—'करना', 'होना' और 'है'। 'करना' होनेमें और 'होना' 'है' में बदल जाय तो अहंकार सर्वथा नष्ट हो जाता है। जिसके अन्तःकरणमें क्रिया और पदार्थका महत्त्व है, ऐसा संसारी मनुष्य मानता है कि मैं क्रिया कर रहा हूँ—'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' (गीता ३। २७)। जो कर्ता बनता है, उसे भोक्ता बनना ही पड़ता है। जिसमें विवेककी प्रधानता है, ऐसा साधक तो अनुभव करता है कि क्रिया हो रही है— गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गीता ३। २८) अर्थात् मैं कुछ भी नहीं करता हूँ—'नैव किञ्चित्करोमीति' (गीता ५। ८)। परन्तु जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है, ऐसा गुणातीत महापुरुष केवल सत्ता तथा ज्ञप्तिमात्र ('है') का ही अनुभव करता है—'योऽवतिष्ठति नेङ्गते'। वह चिन्मय सत्ता सम्पूर्ण क्रियाओंमें ज्यों-की-त्यों परिपूर्ण है। क्रियाओंका तो अन्त हो जाता है, पर चिन्मय सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। महापुरुषकी दृष्टि क्रियाओंपर न रहकर स्वतः एकमात्र चिन्मय सत्ता ('है')-पर ही रहती है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

जो धीर मनुष्य दुःख-सुखमें सम तथा अपने स्वरूपमें स्थित रहता है; जो मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेमें सम रहता है; जो प्रिय-अप्रियमें सम रहता है; जो अपनी निन्दा-स्तुतिमें सम रहता है; जो मान-अपमानमें सम रहता है; जो मित्र-शत्रुके पक्षमें सम रहता है और जो सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्यागी है, वह मनुष्य गुणातीत कहा जाता है।

व्याख्या—यहाँ भगवान्‌ने सुखः-दुःख, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति और मान-अपमान—ये आठ परस्परविरुद्ध नाम लिये हैं, जिनमें साधारण मनुष्योंकी तो विषमता हो ही जाती है, साधकोंकी भी कभी-कभी विषमता हो जाती है। इन आठ कठिन स्थलोंमें जिसकी समता हो जाती है, उसके लिये अन्य सभी अवस्थाओंमें समता रखना सुगम हो जाता है। गुणातीत महापुरुषकी इन आठों स्थलोंमें स्वतः-स्वाभाविक समता रहती है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥

और जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है, वह इन गुणोंका अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है।

व्याख्या— भक्तिसे साधक जो भी चाहता है, उसीकी प्राप्ति हो जाती है। जो साधक मुख्यरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति अर्थात् मुक्ति, तत्त्वज्ञान चाहता है, उसे भक्तिसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि ब्रह्मकी प्रतिष्ठा भगवान् ही हैं (गीता १४। २७)। ब्रह्म समग्र भगवान्का ही एक अंग (स्वरूप) है (गीता ७। २९-३०)। तेरहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी भक्तिको ज्ञानप्राप्तिका साधन बताया गया है।

श्रीमद्भागवतमहापुराणमें सगुणकी उपासनाको निर्गुण (सत्त्वादि गुणोंसे अतीत) बताया गया है; जैसे— 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्' (११। २५। २५) 'मत्सेवायां तु निर्गुणा' (११। २५। २७) आदि। इसलिये सगुणोपासक भक्त तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है।

सगुण भगवान् भी गुणोंके आश्रित नहीं हैं, प्रत्युत गुण उनके आश्रित हैं। जो सत्त्व-रज-तम गुणोंके वशमें है, उसका नाम 'सगुण' नहीं है, प्रत्युत जिसमें असीम ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि अनन्त दिव्य गुण नित्य विद्यमान रहते हैं, उसका नाम 'सगुण' है। भगवान्के द्वारा सात्त्विक, राजस अथवा तामस क्रियाएँ तो हो सकती हैं, पर वे उन गुणोंके वशमें नहीं होते।

भगवान्की तरफ चलनेसे भक्त स्वतः और सुगमतासे गुणातीत हो जाता है। इतना ही नहीं, उसे भगवान्के समग्र रूपका भी ज्ञान हो जाता है और प्रेम भी प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

क्योंकि ब्रह्मका और अविनाशी अमृतका तथा शाश्वत धर्मका और ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं ही हूँ।

व्याख्या— **'ब्रह्म तथा अविनाशी अमृतका आश्रय मैं हूँ'—यह निर्गुण-निराकारकी तथा 'ज्ञानयोग' की बात है। 'शाश्वत धर्मका आश्रय मैं हूँ'—यह सगुण-साकारकी तथा 'कर्मयोग' की बात है। 'ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं हूँ'—यह सगुण-निराकारकी तथा 'ध्यानयोग' की बात है। तात्पर्य यह हुआ कि मेरी (सगुण-साकारकी) उपासना करनेसे, मेरा आश्रय लेनेसे भक्तको ज्ञानयोग, कर्मयोग और ध्यानयोग— तीनोंकी सिद्धि हो जाती है। कारण कि समग्र भगवान्‌के एक अंशमें सब कुछ विद्यमान है (गीता १०। ४२)। भगवान् ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि सबकी प्रतिष्ठा (आश्रय) हैं।**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

पन्द्रहवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—ऊपरकी ओर मूलवाले तथा नीचेकी ओर शाखावाले जिस संसाररूप अश्वत्थवृक्षको (प्रवाहरूपसे) अव्यय कहते हैं और वेद जिसके पत्ते हैं, उस संसार-वृक्षको जो जानता है, वह सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाला है।

व्याख्या—परिवर्तनशील होनेपर भी संसारको 'अव्यय' कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें निरन्तर परिवर्तन होनेपर भी कुछ व्यय (खर्चा) नहीं होता अर्थात् अन्त नहीं होता। जैसे समुद्रके ऊपर कितनी लहरें उठती दीखती हैं, ज्वार-भाटा आता है, पर उसका जल उतना ही रहता है, घटता-बढ़ता नहीं। ऐसे ही निरन्तर परिवर्तन दीखनेपर भी संसार अव्यय ही रहता है।

परिवर्तनशील संसार भी परमात्माकी शक्ति 'अपरा प्रकृति' का कार्य होनेसे परमात्माका ही स्वरूप है—'सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९। १९)। परिवर्तनरूप अपरा प्रकृति भी परमात्माका स्वरूप है। यह संसार उस परमात्माकी ही लहरें हैं। जैसे ऊपरसे लहरें दीखनेपर भी समुद्रके भीतर कोई लहर नहीं है, भीतरसे समुद्र सम-शान्त है, ऐसे ही ऊपरसे संसार परिवर्तनशील दीखते हुए भी भीतरसे एक सम, शान्त परमात्मतत्त्व है (गीता १३। २७)। तात्पर्य यह हुआ कि संसार संसाररूपसे अव्यय नहीं है, प्रत्युत भगवद्रूपसे अव्यय है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा-
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

उस संसार-वृक्षकी गुणों (सत्त्व, रज और तम)-के द्वारा बढ़ी हुई तथा विषयरूप कोंपलोंवाली शाखाएँ नीचे, (मध्यमें) और ऊपर (सब जगह) फैली हुई हैं। मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाले मूल भी नीचे और ऊपर (सभी लोकोंमें) व्याप्त हो रहे हैं।

व्याख्या— **प्रथम श्लोकमें आये 'ऊर्ध्वमूलम्' पदका तात्पर्य है— परमात्मा, जो संसारके रचयिता तथा उसके मूल आधार हैं; और यहाँ 'मूलानि' पदका तात्पर्य है— तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूल, जो संसारमें मनुष्यको बाँधते हैं। साधकको इन मूलोंका तो छेदन करना है और ऊर्ध्वमूल परमात्माका आश्रय लेना है।**

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥

इस संसार-वृक्षका जैसा रूप देखनेमें आता है, वैसा यहाँ (विचार करनेपर) मिलता नहीं; क्योंकि इसका न तो आदि है, न अन्त है और न स्थिति ही है। इसलिये इस दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको दृढ़ असंगतारूप शस्त्रके द्वारा काटकर—

व्याख्या— भगवान् आदिमें भी हैं, अन्तमें भी हैं और मध्यमें भी हैं (गीता १०। २०,३२); परन्तु संसार न आदिमें है, न अन्तमें है और न मध्यमें ही है अर्थात् संसारकी सत्ता ही नहीं है—'नासतो विद्यते भावः' (गीता २। १६)। अतः एक भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं है।

इस श्लोकमें आये 'छित्त्वा' पदका तात्पर्य काटना अथवा नाश (अभाव) करना नहीं है, प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद करना है। कारण कि यह संसार-वृक्ष भगवान्‌की अपरा प्रकृति होनेसे अव्यय है।

संसार रागके कारण ही दीखता है। जिस वस्तुमें राग होता है, उसी वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता दीखती है। यदि राग न रहे तो नेत्रोंसे संसारकी सत्ता दीखते हुए भी महत्ता नहीं रहती। अतः 'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' पदोंका तात्पर्य है—संसारके रागको सर्वथा मिटा देना अर्थात् अपने अन्तःकरणमें एक परमात्माके सिवाय अन्य किसीसे सम्बन्ध न मानना, सृष्टिमात्रकी किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये न मानना। वास्तवमें संसारकी सत्ता बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत उससे रागपूर्वक माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनकारक है। सत्ता बाधक नहीं है, महत्ता बाधक है। हम जिस वस्तुको महत्ता देते हैं, वही बाँधनेवाली हो जाती है। महत्ता हमारी दी हुई है, उसमें है नहीं। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर संसारका संसाररूपसे अभाव हो जाता है और वह भगवद्रूपसे दीखने लगता है—'वासुदेवः सर्वम्'।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा-
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ ५॥

जो (अपनी दृष्टिसे) मान और मोहसे रहित हो गये हैं, जिन्होंने आसक्तिसे होनेवाले दोषोंको जीत लिया है, जो नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही लगे हुए हैं, जो सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो गये हैं, जो सुख-दुःख नामवाले द्वन्द्वोंसे मुक्त हो गये हैं, (ऐसे ऊँची स्थितिवाले) मोहरहित साधक भक्त उस अविनाशी परमपद (परमात्मा)-को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या— **जिस परमात्माको इसी अध्यायके प्रथम श्लोकमें 'ऊर्ध्वमूलम्' पदसे कहा गया तथा जिस परमपदरूपी परमात्माकी खोज करनेके लिये चौथे श्लोकमें प्रेरणा की गयी और आगे छठे श्लोकमें जिसकी महिमाका वर्णन किया गया है, उसी परमात्मस्वरूप परमपदको यहाँ 'अव्ययम् पदम्' कहा गया है। जो ऊँची स्थितिके साधक भक्त मान, मोह, ममता आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हो जाते हैं, वे उस अविनाशी परमपदको अवश्य प्राप्त होते हैं, जिसे प्राप्त होनेपर जीव लौटकर नाशवान् संसारमें नहीं आता।**

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

उस परमपदको न सूर्य, न चन्द्र और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकती है और जिसको प्राप्त होकर जीव लौटकर संसारमें नहीं आते, वही मेरा परम धाम है।

व्याख्या— यह छठा श्लोक पाँचवें और सातवें श्लोकोंको जोड़नेवाला है। इन श्लोकोंमें भगवान् यह बताते हैं कि वह अविनाशी पद मेरा ही धाम है, जो मुझसे अभिन्न है और जीव भी मेरा सनातन अंश होनेके कारण मुझसे अभिन्न है। अतः भगवान्‌का जो धाम है, वही हमारा धाम है। इसी कारण उस धामकी प्राप्ति होनेपर फिर लौटकर संसारमें नहीं आना पड़ता। जबतक हम अपने उस धाममें नहीं जायँगे, तबतक हम मुसाफिरकी तरह अनेक योनियोंमें तथा अनेक लोकोंमें घूमते ही रहेंगे, कहीं भी ठहर नहीं सकेंगे। यदि हम ऊँचे-से-ऊँचे ब्रह्मलोकमें भी चले जायँ तो वहाँसे भी लौटकर आना पड़ेगा (गीता ८। १६)। कारण कि यह सम्पूर्ण संसार (मात्र ब्रह्माण्ड) परदेश है, स्वदेश नहीं। यह पराया घर है, अपना घर नहीं। विभिन्न योनियों और लोकोंमें हमारा भटकना तभी बन्द होगा, जब हम अपने असली घरमें पहुँच जायँगे।

परमपदको न तो आधिभौतिक प्रकाश (सूर्य, चन्द्र आदि) प्रकाशित कर सकता है, न आधिदैविक प्रकाश (नेत्र, मन, बुद्धि, वाणी आदि) ही प्रकाशित कर सकता है। कारण कि यह स्वयंप्रकाश है। इसमें प्रकाश्य-प्रकाशकका भेद नहीं है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं)मेरा ही सनातन अंश है; परन्तु वह प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षित करता है (अपना मान लेता है)।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोकमें 'ममैवांश:' पदमें 'एव' कहनेका तात्पर्य है कि जीव केवल भगवान्‌का ही अंश है, इसमें प्रकृतिका अंश किंचिन्मात्र भी नहीं है। जैसे शरीरमें माता और पिता—दोनोंके अंशका मिश्रण होता है, ऐसे जीवमें भगवान् और प्रकृतिके अंशका मिश्रण (संयोग) नहीं है, प्रत्युत यह केवल भगवान्‌का ही अंश है। अतः इसका सम्बन्ध केवल भगवान्‌के साथ है, प्रकृतिके साथ नहीं। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध तो यह खुद जोड़ता है।

प्रकृतिके कार्य स्थूल,सूक्ष्म और कारण-शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही अनर्थका कारण है। जीव शरीरको अपनी तरफ खींचता है (कर्षति) अर्थात् उसे अपना मानता है, पर जो वास्तवमें अपना है, उस परमात्माको अपना मानता ही नहीं! यही जीवकी मूल भूल है।

हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है—'ममैवांशो जीवलोके', इसलिये हम परमात्मामें ही स्थित हैं। परन्तु शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका सम्बन्ध अपरा प्रकृतिके साथ है, इसलिये वे प्रकृतिमें ही स्थित हैं—'प्रकृतिस्थानि'। शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं और परमात्मासे अलग हम कभी हुए ही नहीं, होंगे ही नहीं, हो सकते ही नहीं। हमसे दूर-से-दूर कोई वस्तु है तो वह शरीर है और समीप-से-समीप कोई वस्तु है तो वह परमात्मा है। परन्तु शरीरको मैं, मेरा और मेरे लिये माननेके कारण मनुष्यको उलटा दीखता है अर्थात् शरीर तो समीप दीखता है, परमात्मा दूर! शरीर तो प्राप्त दीखता है, परमात्मा अप्राप्त!

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

जैसे वायु गन्धके स्थानसे गन्धको (ग्रहण करके ले जाती है), ऐसे ही शरीरादिका स्वामी बना हुआ जीवात्मा भी जिस शरीरको छोड़ता है, वहाँसे इन (मनसहित इन्द्रियों)-को ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें चला जाता है।

व्याख्या— **वास्तवमें शुद्ध चेतन (आत्मा)-का किसी शरीरको प्राप्त करना और उसका त्याग करके दूसरे शरीरमें जाना हो नहीं सकता; क्योंकि आत्मा अचल और समानरूपसे सर्वत्र व्याप्त है (गीता २। १७,२४)। शरीरोंका ग्रहण और त्याग परिच्छिन्न (एकदेशीय) तत्त्वके द्वारा ही होना सम्भव है, जबकि आत्मा कभी किसी भी देश-कालादिमें परिच्छिन्न नहीं हो सकती। परन्तु जब यह आत्मा प्रकृतिके कार्य शरीरसे तादात्म्य कर लेती है अर्थात् शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान लेती है, तब सूक्ष्मशरीरके आने-जानेको उसका आना-जाना कहा जाता है।**

वायुका दृष्टान्त देनेका तात्पर्य है कि जीव वायुकी तरह निर्लिप्त रहता है। शरीरसे लिप्त होनेपर भी वास्तवमें इसकी निर्लिप्तता ज्यों-की-त्यों रहती है—'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' **(गीता १३। ३१)।**

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥

यह जीवात्मा मनका आश्रय लेकर ही श्रोत्र और नेत्र तथा त्वचा, रसना और घ्राण—इन पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता है।

व्याख्या—जैसे कोई व्यापारी किसी कारणवश एक जगहसे दूकान उठाकर दूसरी जगह लगाता है, ऐसे ही जीवात्मा एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है और जैसे पहले शरीरमें विषयोंका रागपूर्वक सेवन करता था, ऐसे ही दूसरे शरीरमें जानेपर (वही स्वभाव होनेसे) विषयोंका सेवन करने लगता है। इस प्रकार जीवात्मा बार-बार विषयोंमें आसक्तिके कारण ऊँच-नीच योनियोंमें भटकता रहता है। कारण कि विषयोंका सेवन करनेसे स्वयंकी गौणता और शरीर-संसारकी मुख्यता हो जाती है। इसलिये स्वयं भी जगद्रूप हो जाता है (गीता ७।१३)।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

शरीरको छोड़कर जाते हुए या दूसरे शरीरमें स्थित हुए अथवा विषयोंको भोगते हुए भी गुणोंसे युक्त जीवात्माके स्वरूपको मूढ़ मनुष्य नहीं जानते, ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले (ज्ञानी मनुष्य ही) जानते हैं।

व्याख्या— शरीरको छोड़कर जाना, दूसरे शरीरमें स्थित होना और विषयोंको भोगना—तीनों क्रियाएँ अलग-अलग हैं, पर उनमें रहनेवाला जीवात्मा एक ही है—यह बात प्रत्यक्ष होते हुए भी अविवेकी मनुष्य इसको नहीं जानता अर्थात् अपने अनुभवको महत्त्व नहीं देता। कारण कि तीनों गुणोंसे मोहित होनेके कारण वह बेहोश-सा रहता है (गीता ७। १३)।

भगवान्ने पिछले श्लोकमें पाँच क्रियाएँ बतायी थीं—सुनना, देखना, स्पर्श करना, स्वाद लेना तथा सूँघना, और इस श्लोकमें तीन क्रियाएँ बतायी हैं— शरीरको छोड़कर जाना, दूसरे शरीरमें स्थित होना तथा विषयोंको भोगना। इन आठोंमें कोई भी क्रिया निरन्तर नहीं रहती, पर स्वयं निरन्तर रहता है। क्रियाएँ तो आठ हैं, पर इन सबमें स्वयं एक ही रहता है। इसलिये इनके भाव और अभावका, आरम्भ और अन्तका ज्ञान सबको होता है। जिसे आरम्भ और अन्तका ज्ञान होता है, वह स्वयं नित्य होता है—यह नियम है।

अनेक अवस्थाओंमें स्वयं एक रहता है और एक रहते हुए अनेक अवस्थाओंमें जाता है। यदि स्वयं एक न रहता तो सब अवस्थाओंका अलग-अलग अनुभव कौन करता? परन्तु ऐसी बात प्रत्यक्ष होते हुए भी विमूढ़ मनुष्य इस तरफ नहीं देखते, प्रत्युत ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले योगी मनुष्य ही देखते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यत्न करनेवाले योगीलोग अपने-आपमें स्थित इस परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं। परन्तु जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अविवेकी मनुष्य यत्न करनेपर भी इस तत्त्वका अनुभव नहीं करते।

व्याख्या—**सदा न भोग साथ रहता है, न संग्रह साथ रहता है— यह विवेक मनुष्यमें स्वतः है। परन्तु जो मनुष्य शास्त्र पढ़ते हुए, सत्संग करते हुए, साधन करते हुए भी अपने विवेककी तरफ ध्यान नहीं देते, भोग और संग्रहसे अलगावका अनुभव नहीं करते, वे मनुष्य 'अकृतात्मा' हैं। ऐसे मनुष्योंको अठारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भगवान्ने 'अकृतबुद्धि' और 'दुर्मति' कहा है। यद्यपि परमात्मप्राप्ति कठिन नहीं है, तथापि भीतरमें राग, आसक्ति, सुखबुद्धि पड़ी रहनेसे वे साधन करते हुए भी परमात्माको नहीं जानते। कारण कि भोग तथा संग्रहमें रुचि रखनेवाले मनुष्यका विवेक स्थिर नहीं रहता।**

पूर्वश्लोकमें जिन्हें 'विमूढाः' कहा गया है, उन्हींको यहाँ 'अचेतसः कहा गया है। गुणोंसे मोहित होनेके कारण वे न तो विषयोंके विभागको जानते हैं और न स्वयंके विभागको ही जानते हैं अर्थात् भोगोंका संयोग-वियोग अलग है और स्वयं अलग है—यह नहीं जानते।

सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतकके इस प्रकरणमें भगवान् यह बताना चाहते हैं कि मेरा अंश जीवात्मा सर्वथा अलग है और जिस सामग्री (शरीरादि पदार्थ और क्रिया)-को वह भूलसे अपनी मानता है, वह सर्वथा अलग है। सूर्य और अमावस्याकी रात्रिकी तरह दोनोंका विभाग ही अलग-अलग है। उनका परस्पर संयोग होना सम्भव ही नहीं है। जो उपर्युक्त जड़ और चेतन—दोनोंके विभागको सर्वथा अलग-अलग देखता है, वही ज्ञानी और योगी है। परन्तु जो दोनोंको मिला हुआ देखता है, वह अज्ञानी और भोगी है।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥

सूर्यको प्राप्त हुआ जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमामें है तथा जो तेज अग्निमें है,उस तेजको मेरा ही जान।

व्याख्या— **प्रभाव और महत्त्वकी तरफ आकर्षित होना जीवका स्वभाव है। प्राकृत पदार्थोंके सम्बन्धसे जीव प्राकृत पदार्थोंके प्रभाव और महत्त्वसे प्रभावित हो जाता है। अतः जीवपर पड़े प्राकृत पदार्थोंके प्रभाव और महत्त्वको हटानेके लिये भगवान् यह रहस्य प्रकट करते हैं कि उन पदार्थोंमें जो प्रभाव और महत्त्व देखनेमें आता है, वह वस्तुतः (मूलमें) मेरा ही है, उनका नहीं। सर्वोपरि प्रभावशाली तथा महत्त्वशाली मैं ही हूँ। मेरे ही प्रकाशसे सब प्रकाशित हो रहे हैं।**

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

मैं ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपनी शक्तिसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ और (मैं ही) रसस्वरूप चन्द्रमा होकर समस्त ओषधियों (वनस्पतियों)-को पुष्ट करता हूँ।

व्याख्या— **पृथ्वी, चन्द्रमा आदि सब भगवान्‌की अपरा प्रकृति है (गीता ७।४)। अतः इसके उत्पादक, धारक, पालक, संरक्षक, प्रकाशक आदि सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌की शक्ति होनेसे अपरा प्रकृति भगवान्‌से अभिन्न है।**

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः* पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥

प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाला मैं प्राण-अपानसे युक्त वैश्वानर (जठराग्नि) होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ।

व्याख्या—**पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करना, चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण वनस्पतियोंका पोषण करना, फिर उनको खानेवाले प्राणियोंके भीतर जठराग्नि होकर खाये हुए अन्नको पचाना आदि सम्पूर्ण कार्य भगवान्‌की ही शक्तिसे होते हैं। परन्तु मनुष्य उन कार्योंको अपने द्वारा किया जानेवाला मानकर व्यर्थमें ही अभिमान कर लेता है; जैसे बैलगाड़ीके नीचे छायामें चलनेवाला कुत्ता समझता है कि बैलगाड़ी मैं ही चलाता हूँ!**

* गीतामें सब जगह प्राण और अपान—इन दोका ही वर्णन हुआ है; जैसे—

(१) अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
(४। २९)

(२) प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
(५। २७)

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो-
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो-
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५॥

मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय आदि दोषोंका नाश) होता है। सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ। वेदोंके तत्त्वका निर्णय करनेवाला और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

व्याख्या— पिछले तीन श्लोकोंमें भगवान्‌ने प्रभाव और क्रियारूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया, अब प्रस्तुत श्लोकमें स्वयं अपना वर्णन करते हैं। तात्पर्य है कि इस श्लोकमें स्वयं भगवान्‌का वर्णन है, आदित्यगत, चन्द्रगत, अग्निगत अथवा वैश्वानरगत भगवान्‌का वर्णन नहीं। मूलमें एक ही तत्त्व है,केवल वर्णनमें भिन्नता है।

पहले 'ममैवांशो जीवलोके' (१५।७) पदोंसे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् अपने हैं और यहाँ 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' पदोंसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् अपनेमें हैं। भगवान्‌को अपना स्वीकार करनेसे उनमें स्वाभाविक प्रेम होगा और अपनेमें स्वीकार करनेसे उन्हें पानेके लिये दूसरी जगह जानेकी जरूरत नहीं रहेगी। सबके हृदयमें रहनेके कारण भगवान् प्राणिमात्रको नित्यप्राप्त हैं; अतः किसी भी साधकको भगवान्‌की प्राप्तिसे निराश नहीं होना चाहिये।

भगवान् कहते हैं कि वेद अनेक हैं, पर उन सबमें जाननेयोग्य एक मैं ही हूँ और उन सबको जाननेवाला भी मैं ही हूँ। तात्पर्य है कि सब कुछ मैं ही हूँ— 'वासुदेवः सर्वम्'।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥

इस संसारमें क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी)—ये दो प्रकारके ही पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर क्षर और जीवात्मा अक्षर कहा जाता है।

व्याख्या— पहले छठे श्लोकमें और फिर बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक भगवान्‌ने अलौकिक तत्त्वका वर्णन किया कि स्वतन्त्र सत्ता अलौकिककी ही है, लौकिककी नहीं। लौकिककी सत्ता अलौकिकसे ही है। अलौकिकसे ही लौकिक प्रकाशित होता है। लौकिकमें जो प्रभाव देखनेमें आता है, वह सब अलौकिकका ही है। अब सोलहवें श्लोकमें भगवान् 'लोके' पदसे 'लौकिक तत्त्व' का वर्णन करते हैं।

क्षर (जगत्) तथा अक्षर (जीव)—दोनों लौकिक हैं, और भगवान् इन दोनोंसे विलक्षण अर्थात् अलौकिक हैं—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' (गीता १५। १७)। कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दो योगमार्ग भी लौकिक हैं— 'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा.......' (गीता ३। ३)। क्षरको लेकर कर्मयोग और अक्षरको लेकर ज्ञानयोग चलता है; परन्तु भक्तियोग अलौकिक है, जो भगवान्‌को लेकर चलता है। सातवें अध्यायमें वर्णित अपरा प्रकृतिको यहाँ 'क्षर' नामसे और परा प्रकृतिको यहाँ 'अक्षर' नामसे कहा गया है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

उत्तम पुरुष तो अन्य (विलक्षण) ही है, जो 'परमात्मा'—इस नामसे कहा गया है। वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका भरण-पोषण करता है।

व्याख्या— पुरुषोत्तमको 'अन्य' कहनेका तात्पर्य है कि क्षर और अक्षर तो लौकिक हैं, पर पुरुषोत्तम दोनोंसे विलक्षण अर्थात् अलौकिक हैं। अतः परमात्मा विचारके विषय नहीं हैं, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासके विषय हैं। परमात्माके होनेमें भक्त, सन्त-महात्मा, वेद और शास्त्र ही प्रमाण हैं। 'अन्य' का स्पष्टीकरण भगवान्‌ने अगले श्लोकमें किया है।

भगवान् मात्र प्राणियोंका पालन-पोषण करते हैं। पालन-पोषण करनेमें भगवान् किसीके साथ कोई पक्षपात (विषमता) नहीं करते। वे भक्त-अभक्त, पापी-पुण्यात्मा, आस्तिक-नास्तिक आदि सबका समानरूपसे पालन-पोषण करते हैं। प्रत्यक्ष देखनेमें भी आता है कि भगवान्‌द्वारा रचित सृष्टिमें सूर्य सबको समानरूपसे प्रकाश देता है, पृथ्वी सबको समानरूपसे धारण करती है, वायु श्वास लेनेके लिये सबको समानरूपसे प्राप्त होती है, अन्न-जल सबको समानरूपसे तृप्त करते हैं, इत्यादि। जब भगवान्‌के द्वारा रचित सृष्टि भी इतनी निष्पक्ष, उदार है तो फिर भगवान् स्वयं कितने निष्पक्ष, उदार होंगे!

आधुनिक वेदान्तियोंने ईश्वरको कल्पित बताकर साधक-जगत्‌की बहुत बड़ी हानि की है! उन्हें इस बातका भय है कि ईश्वरको माननेसे अपने अद्वैत सिद्धान्तमें कमी आ जायगी! परन्तु ईश्वर किसकी कल्पना है—इसका उत्तर उनके पास नहीं है। वास्तवमें सत्ता एक ही (अद्वैत) है, पर अपने रागके कारण दूसरी सत्ता (द्वैत) दीखती है। दूसरी सत्ताका तात्पर्य संसारसे है, ईश्वरसे नहीं; क्योंकि संसार 'पर' है और ईश्वर 'स्व' (स्वकीय) है। अपना राग मिटाये बिना दूसरी सत्ता नहीं मिटेगी। राग तो अपना है, पर मान लिया ईश्वरको कल्पित! अतः ईश्वरको कल्पित न मानकर अपना राग मिटाना चाहिये। ईश्वर कल्पित नहीं है, प्रत्युत अलौकिक है। वह मायारूपी धेनुका बछड़ा नहीं है, प्रत्युत साँड़ है! उपनिषद्‌में भी आया है—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेताश्वतर० ४। १०) 'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और मायापति महेश्वरको समझना चाहिये। आजतक जिस ईश्वरके असंख्य भक्त हो चुके हैं, वह कल्पित कैसे हो सकता है?'

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥

कारण कि मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ।

व्याख्या— क्षर और अक्षरकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, पर परमात्माकी स्वतन्त्र सत्ता है। क्षर और अक्षर दोनों परमात्मामें ही रहते हैं। परन्तु अक्षर अर्थात् जीव क्षरके साथ सम्बन्ध जोड़कर उसके अधीन हो जाता है—'ययेदं धार्यते जगत्' (गीता ७।५)। परमात्मा क्षरके अधीन नहीं होते, प्रत्युत क्षरसे अतीत रहते हैं। इसलिये परमात्मा अक्षर (जीव)-से भी उत्तम हैं। यदि जीव जगत्‌के साथ सम्बन्ध न जोड़कर उसके स्वामी परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़े तो वह परमात्मासे अभिन्न (आत्मीय) हो जायगा—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गीता ७।१८)

मुक्तिमें तो अक्षर (स्वरूप)-में स्थिति होती है, पर भक्तिमें अक्षरसे भी उत्तम पुरुषोत्तमकी प्राप्ति होती है। स्वरूप अंश है, पुरुषोत्तम अंशी हैं।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

हे भरतवंशी अर्जुन! इस प्रकार जो मोहरहित मनुष्य मुझे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ सब प्रकारसे मेरा ही भजन करता है।

व्याख्या— किसी विशेष महत्त्वपूर्ण बातपर मन रागपूर्वक लगता है और बुद्धि श्रद्धापूर्वक। जब मनुष्य भगवान्‌को क्षरसे अतीत जान लेता है, तब उसका मन क्षरसे हटकर भगवान्‌में लग जाता है। जब वह भगवान्‌को अक्षरसे उत्तम जान लेता है, तब उसकी बुद्धि भगवान्‌में लग जाती है फिर उसकी प्रत्येक वृत्ति और क्रियासे स्वतः भगवान्‌का भजन होता है। कारण कि उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई होता ही नहीं।

गीतामें 'सर्ववित्' शब्द केवल भक्तके लिये ही यहाँ आया है। भक्त समग्रको अर्थात् लौकिक और अलौकिक— दोनोंको जानता है, इसलिये वह सर्ववित् होता है। कारण कि लौकिकके अन्तर्गत अलौकिक नहीं आ सकता, पर अलौकिकके अन्तर्गत लौकिक भी आ जाता है। अतः निर्गुण तत्त्व (अक्षर)-को जाननेवाला ब्रह्मज्ञानी सर्ववित् नहीं होता, प्रत्युत समग्र भगवान्‌को जाननेवाला भक्त सर्ववित् होता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है। हे भरतवंशी अर्जुन! इसको जानकर मनुष्य ज्ञानवान् (ज्ञात-ज्ञातव्य) तथा कृतकृत्य हो जाता है।

व्याख्या—भगवान्‌ने इस अध्यायमें अपने-आपको पुरुषोत्तमरूपसे अर्थात् अलौकिक समग्ररूपसे प्रकट किया है, इसलिये इसे 'गुह्यतम शास्त्र' कहा गया है।

पूर्वश्लोकमें सर्वभावसे भगवान्‌का भजन करने अर्थात् अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात विशेषरूपसे आयी है। भक्तिमें मनुष्य प्राप्तप्राप्तव्य हो जाता है। अतः पूर्व-श्लोकमें प्राप्तप्राप्तव्य होनेकी बात माननी चाहिये। इस श्लोकमें ('बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च' पदमें) ज्ञातज्ञातव्य तथा कृतकृत्य होनेकी बात आयी है।

लौकिक क्षर और अक्षर तो प्राप्त हैं; अतः अलौकिक परमात्मा ही प्राप्तव्य हैं। इस श्लोकसे यह भाव निकलता है कि भक्तको ज्ञानयोग तथा कर्मयोग—दोनोंका फल प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह ज्ञातज्ञातव्य और कृतकृत्य भी हो जाता है (गीता ७। २९-३०, १०। १०-११)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी अत्यन्त शुद्धि, ज्ञानके लिये योगमें दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, कर्तव्य-पालनके लिये कष्ट सहना और शरीर-मन-वाणीकी सरलता।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोध न करना, संसारकी कामनाका त्याग, अन्तःकरणमें राग-द्वेषजनित हलचलका न होना, चुगली न करना, प्राणियोंपर दया करना, सांसारिक विषयोंमें न ललचाना, अन्तःकरणकी कोमलता, अकर्तव्य करनेमें लज्जा, चपलताका अभाव।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

तेज (प्रभाव), क्षमा, धैर्य, शरीरकी शुद्धि, वैर-भावका न होना और मानको न चाहना; हे भरतवंशी अर्जुन! ये सभी दैवी सम्पदाको प्राप्त हुए मनुष्यके लक्षण हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

हे पृथानन्दन! दम्भ करना, घमण्ड करना और अभिमान करना, क्रोध करना तथा कठोरता रखना और अविवेकका होना भी—ये सभी आसुरी सम्पदाको प्राप्त हुए मनुष्यके लक्षण हैं।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं-
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

उसके बाद उस परमपद (परमात्मा)-की खोज करनी चाहिये। जिसको प्राप्त हुए मनुष्य फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिससे अनादिकालसे चली आनेवाली यह सृष्टि विस्तारको प्राप्त हुई है, उस आदि पुरुष परमात्माके ही मैं शरण हूँ।

व्याख्या—संसार नित्यनिवृत्त है, इसलिये उसका त्याग होता है—'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' और परमात्मा नित्यप्राप्त हैं, इसलिये उनकी खोज होती है—'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्'। निर्माण और खोज—दोनोंमें बहुत अन्तर है। निर्माण उस वस्तुका होता है, जिसका पहलेसे अभाव है और खोज उस वस्तुकी होती है, जो पहलेसे ही विद्यमान है। परमात्मा नित्यप्राप्त और स्वतःसिद्ध हैं, इसलिये उनकी खोज होती है, निर्माण नहीं होता। जब साधक परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करता है, तब खोज होती है। खोज करनेके दो प्रकार हैं—एक तो कण्ठी कहीं रखकर भूल जाय तो हम जगह-जगह उसकी खोज करते हैं और दूसरा, कण्ठी गलेमें ही हो पर न दीखनेसे यह वहम हो जाय कि कण्ठी खो गयी तो हम उसकी खोज करते हैं। परमात्मा गलेमें पड़ी कण्ठीकी खोजके समान हैं। तात्पर्य है कि वास्तवमें परमात्मा खोये नहीं हैं, पर संसारकी ओर दृष्टि (सम्मुखता) रहनेसे हमारी दृष्टि परमात्माकी ओर नहीं जाती। उधर दृष्टि न जाना ही उसका खोना है।

परमात्मा कभी अप्राप्त हुए ही नहीं, अप्राप्त हैं ही नहीं, अप्राप्त हो सकते ही नहीं। उनकी अप्राप्ति नहीं हुई है, प्रत्युत विस्मृति हुई है, उनसे विमुखता हुई है, उनकी अप्राप्तिका वहम हुआ है। परमात्माकी खोज करनेका उपाय है—अप्राप्त संसारका त्याग करना अर्थात् उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना, उसे अस्वीकार करना। अतः संसारके त्यागमें ही परमात्माकी खोज निहित है—'अतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः' (श्रीमद्भा० १०। १४। २८)।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर साधक मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेपर संसारकी कामना तो मिट जाती है, पर प्रेमकी भूख नहीं मिटती। ब्रह्मसूत्रमें आया है—'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्' (१। ३। २) 'उस प्रेमस्वरूप भगवान्‌को मुक्त पुरुषोंके लिये भी प्राप्तव्य बताया गया है'। तात्पर्य है कि स्वरूप जिसका अंश है, उस अंशी (परमात्मा)-के प्रेमकी प्राप्तिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है। अंश (स्वरूप)-में निजानन्द (अखण्ड आनन्द) है और अंशीमें परमानन्द (अनन्त आनन्द) है। जो मुक्तिमें नहीं अटकता, उसमें सन्तोष नहीं करता, उसे प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम (अनन्त आनन्द)-की प्राप्ति होती है—'मद्भक्तिं लभते पराम्' (गीता १८। ५४)। इसीलिये प्रस्तुत श्लोकमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करने अर्थात् मुक्त होनेके बाद परमात्माकी खोज करके उनकी शरण ग्रहण करनेकी बात कही गयी है।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

दैवी सम्पत्ति मुक्तिके लिये और आसुरी सम्पत्ति बन्धनके लिये मानी गयी है। हे पाण्डव! तुम दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त हुए हो, इसलिये तुम शोक (चिन्ता) मत करो।

व्याख्या— जीवके एक ओर भगवान् हैं और एक ओर संसार है। जब वह भगवान्के सम्मुख होता है तब उसमें दैवी-सम्पत्ति आती है और जब वह संसारके सम्मुख होता है तब उसमें आसुरी-सम्पत्ति आती है।

दूसरोंके सुखके लिये कर्म करना अथवा दूसरोंका सुख चाहना 'चेतनता' है, और अपने सुखके लिये कर्म करना अथवा अपना सुख चाहना 'जड़ता' है। भजन-ध्यान भी अपने सुखके लिये, अपने मान-आदरके लिये करना जड़ता है। चेतनताकी मुख्यतासे दैवी-सम्पत्ति आती है और जड़ताकी मुख्यतासे आसुरी-सम्पत्ति आती है ।

मूल दोष एक ही है, जिससे सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्ति उत्पन्न होती है, और मूल गुण भी एक ही है, जिससे सम्पूर्ण दैवी-सम्पत्ति प्रकट होती है। मूल दोष है—शरीर-संसारकी सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उससे सम्बन्ध जोड़ना। मूल गुण है—भगवान्की सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उनसे सम्बन्ध-जोड़ना। यह मूल दोष और मूल गुण ही स्थानभेदसे अनेक रूपोंमें दीखता है।

जबतक गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तभीतक गुणोंकी महत्ता दीखती है और उनका अभिमान होता है। कोई भी अवगुण न रहे तो अभिमान नहीं होता। अभिमान आसुरी-सम्पत्तिका मूल है। अभिमानके कारण मनुष्यको दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता दीखने लगती है—यह आसुरी-सम्पत्ति है। अभिमान होनेके कारण दैवी-सम्पत्ति भी आसुरी-सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाली बन जाती है। जब गुणोंके साथ अवगुण नहीं रहते, तब गुणोंकी महत्ता नहीं दीखती और उनका अभिमान भी नहीं होता। अभिमान न होनेके कारण अर्जुनको अपनेमें गुण (श्रेष्ठता) नहीं दीखते। इसलिये उनकी चिन्ता दूर करनेके लिये भगवान् उनसे कहते हैं कि तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति है, भले ही वह तुम्हें न दीखे।

गीतामें 'मा शुचः' पद दो बार आये हैं—एक यहाँ और दूसरा अठारहवें अध्यायके छाछठवें श्लोकमें। यहाँ ये पद 'साधन' के विषयमें और अठारहवें अध्यायमें 'सिद्धि' के विषयमें चिन्ता न करनेके लिये आये हैं। अतः भक्तको इन दोनों ही विषयोंमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६॥

इस लोकमें दो तरहके ही प्राणियोंकी सृष्टि है— दैवी और आसुरी। दैवीको तो मैंने विस्तारसे कह दिया, अब हे पार्थ! तुम मुझसे आसुरीको (विस्तारसे) सुनो।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥

आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य किसमें प्रवृत्त होना चाहिये और किससे निवृत्त होना चाहिये—इसको नहीं जानते और उनमें न तो बाह्य शुद्धि, न श्रेष्ठ आचरण तथा न सत्य-पालन ही होता है।

व्याख्या—आसुर मनुष्य केवल अपना सुख-आराम, अपना स्वार्थ देखते हैं। जिससे अपनेको सुख मिलता दीखे, उसीमें उनकी प्रवृत्ति होती है और जिससे दुःख मिलता दीखे, स्वार्थ सिद्ध होता न दीखे, उसीसे उनकी निवृत्ति होती है। वास्तवमें प्रवृत्ति और निवृत्तिमें शास्त्र ही प्रमाण है (गीता १६। २४); परन्तु अपने शरीर और प्राणोंमें मोह रहनेके कारण आसुर मनुष्योंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति शास्त्रको लेकर नहीं होती। आसुर स्वभावके कारण वे शास्त्रकी बात सुनते ही नहीं और अगर सुन भी लें तो उसे समझ सकते ही नहीं। कभी सन्त-महात्माओंसे शास्त्रकी बात सुननेपर भी वे उन्हें स्वीकार नहीं करते।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

वे कहा करते हैं कि संसार असत्य, बिना मर्यादाके और बिना ईश्वरके अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे पैदा हुआ है। इसलिये काम ही इसका कारण है, इसके सिवाय और क्या कारण है? (और कारण हो ही नहीं सकता।)

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

इस (पूर्वोक्त नास्तिक) दृष्टिका आश्रय लेनेवाले जो मनुष्य अपने नित्य स्वरूपको नहीं मानते, जिनकी बुद्धि तुच्छ है, जो उग्र कर्म करनेवाले और संसारके शत्रु हैं, उन मनुष्योंकी सामर्थ्यका उपयोग जगत्का नाश करनेके लिये ही होता है।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर दम्भ, अभिमान और मदमें चूर रहनेवाले तथा अपवित्र व्रत धारण करनेवाले मनुष्य मोहके कारण दुराग्रहोंको धारण करके (संसारमें) विचरते रहते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली अपार चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले, पदार्थोंका संग्रह और उनका भोग करनेमें ही लगे रहनेवाले और 'जो कुछ है, वह इतना ही है'—ऐसा निश्चय करनेवाले होते हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥

वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोधके परायण होकर पदार्थोंका भोग करनेके लिये अन्यायपूर्वक धन-संचय करनेकी चेष्टा करते रहते हैं।

व्याख्या— **जबतक मनुष्यका सम्बन्ध शरीर-संसारके साथ रहता है, तबतक उसकी कामनाओंका अन्त नहीं आता।** दूसरे अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमें भी आया है कि अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखाओंवाली होती हैं। कारण कि उन्होंने अविनाशी तत्त्वसे विमुख होकर नाशवान्को सत्ता और महत्ता दे दी तथा उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया।

आसुर स्वभाववाले मनुष्य काम और क्रोधको स्वाभाविक मानते हैं। काम और क्रोधके सिवाय उन्हें और कुछ दीखता ही नहीं, इनसे आगे उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। मनुष्य समझता है कि क्रोध करनेसे दूसरा हमारे वशमें रहेगा। परन्तु जो मजबूर, लाचार होकर हमारे वशमें हुआ है वह कबतक वशमें रहेगा? मौका पड़ते ही वह घात करेगा। अतः क्रोधका परिणाम बुरा ही होता है।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

(वे इस प्रकारके मनोरथ किया करते हैं कि—) इतनी वस्तुएँ तो हमने आज प्राप्त कर लीं और अब इस मनोरथको प्राप्त (पूरा) कर लेंगे। इतना धन तो हमारे पास है ही, इतना धन फिर भी हो जायगा।

व्याख्या— पूर्वपक्ष— दैवी-सम्पत्तिवाले साधकोंके मनमें भी कभी-कभी व्यापार आदिको लेकर ऐसी स्फुरणाएँ होती हैं कि इतना काम तो हो गया, इतना काम करना बाकी है और इतना काम आगे हो जायगा, इतना पैसा (व्यापार आदिमें) आ गया है और इतना पैसा वहाँ देना है, आदि-आदि। फिर उनमें और आसुरी-सम्पत्तिवाले मनुष्योंमें क्या अन्तर हुआ?

उत्तरपक्ष— दोनोंकी वृत्तियाँ एक-सी दीखनेपर भी दोनोंके उद्देश्यमें बहुत अन्तर है। साधकका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका होता है; अतः वह उन वृत्तियोंमें तल्लीन नहीं होता। परन्तु आसुरी सम्पत्तिवालोंका उद्देश्य धनका संग्रह करने तथा भोग भोगनेका रहता है; अतः वे उन वृत्तियोंमें ही तल्लीन रहते हैं।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥

वह शत्रु तो हमारे द्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी हम मार डालेंगे। हम ईश्वर (सर्वसमर्थ) हैं। हम भोग भोगनेवाले हैं। हम सिद्ध हैं। हम बड़े बलवान् और सुखी हैं।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

हम धनवान् हैं, बहुत-से मनुष्य हमारे पास हैं, हमारे समान दूसरा कौन है? हम खूब यज्ञ करेंगे, दान देंगे और मौज करेंगे—इस तरह वे अज्ञानसे मोहित रहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

(कामनाओंके कारण) तरह-तरहसे भ्रमित चित्तवाले, मोह-जालमें अच्छी तरहसे फँसे हुए तथा पदार्थों और भोगोंमें अत्यन्त आसक्त रहनेवाले मनुष्य भयंकर नरकोंमें गिरते हैं।

व्याख्या—**ऊँचे लोकोंकी अथवा नरकोंकी प्राप्ति होनेमें क्रिया और पदार्थ कारण नहीं हैं, प्रत्युत भीतरका भाव कारण है। जैसा भाव होता है, वैसी ही क्रिया अपने-आप होती है। इसलिये भगवान्‌ने आसुर मनुष्योंके भावों (मनोरथ आदि)-का वर्णन किया है।**

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

अपनेको सबसे अधिक पूज्य माननेवाले, अकड़ रखनेवाले तथा धन और मानके मदमें चूर रहनेवाले वे मनुष्य दम्भसे अविधिपूर्वक नाममात्रके यज्ञोंसे यजन करते हैं।

व्याख्या—आसुर स्वभाववाले मनुष्य दूसरोंसे प्रतिस्पर्धा रखते हैं और इसलिये यज्ञ करते हैं कि दूसरोंकी अपेक्षा हममें कोई कमी न रह जाय अर्थात् कोई हमें यज्ञ करनेवालोंकी अपेक्षा नीचा न मान ले। वे लोगोंमें केवल अपनी प्रसिद्धि करनेके लिये यज्ञ करते हैं, फलपर विश्वास नहीं रखते। दूसरा व्यक्ति यज्ञ करता है तो वे ऐसा समझते हैं कि वह भी अपनी प्रसिद्धिके लिये ही यज्ञ करता है। ईश्वर और परलोकपर विश्वास न होनेके कारण उनकी दृष्टि विधिपर नहीं रहती। विधिका विचार वही करते हैं, जो ईश्वर और परलोकको मानते हैं कि अमुक कर्म करेंगे तो उसका अमुक फल मिलेगा।

आसुर मनुष्योंकी चेष्टाएँ प्रायः दिखावटी होती हैं; परन्तु उनके भीतर यह अभिमान होता है कि हम दूसरोंसे भी बढ़िया यज्ञ करेंगे। उनमें अपनी जानकारी-का भी अभिमान होता है कि हम समझदार हैं, दूसरे सब मूर्ख हैं, समझते नहीं। वास्तवमें उनमें कोरी मूर्खता भरी होती है।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

वे अहंकार, हठ, घमण्ड, कामना और क्रोधका आश्रय लेनेवाले मनुष्य अपने और दूसरोंके शरीरमें (रहनेवाले) मुझ अन्तर्यामीके साथ द्वेष करते हैं तथा (मेरे और दूसरोंके गुणोंमें) दोषदृष्टि रखते हैं।

व्याख्या— **आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य अपनी जिदपर अड़े रहते हैं और अपनी बातको ही सच्ची मानते हैं। यह सिद्धान्त है कि जो खुद दुःखी होता है, वही दूसरोंको दुःख देता है। आसुर मनुष्य खुद दुःखी रहते हैं, इसलिये वे दूसरोंको भी दुःख देते हैं। उन्हें कहीं भी गुण नहीं दीखता, प्रत्युत दोष-ही-दोष दीखते हैं। उनकी ऐसी मान्यता होती है कि सब अच्छाई हममें ही है। उन्हें संसारमें कोई अच्छा आदमी दीखता ही नहीं।**

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

उन द्वेष करनेवाले, क्रूर-स्वभाववाले और संसारमें महान् नीच, अपवित्र मनुष्योंको मैं बार-बार आसुरी योनियोंमें ही गिराता रहता हूँ।

व्याख्या— भगवान्‌का क्रूर, निर्दय आसुर मनुष्योंमें भी अपनापन है! भगवान् उनको पराया नहीं समझते, अपना द्वेषी-वैरी नहीं समझते, प्रत्युत अपना ही समझते हैं। जैसे हितैषी अध्यापक विद्यार्थियोंपर शासन करके, उनकी ताड़ना करके पढ़ाते हैं जिससे वे विद्वान् बन जायँ, उन्नत बन जायँ, ऐसे ही जो मनुष्य भगवान्‌को नहीं मानते, उनका खण्डन करते हैं, उनको भगवान् आसुरी योनियोंमें गिराते हैं, जिससे उनके किये हुए पाप दूर हो जायँ और वे शुद्ध-निर्मल बनकर अपना कल्याण कर लें।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

हे कुन्तीनन्दन! वे मूढ़ मनुष्य मुझे प्राप्त न करके ही जन्म-जन्मान्तरमें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अधिक अधम गतिमें अर्थात् भयंकर नरकोंमें चले जाते हैं।

व्याख्या— यहाँ '**मामप्राप्यैव**' (मुझे प्राप्त न करके) पदसे भगवान् मानो पश्चात्तापके साथ कहते हैं कि मैंने अत्यन्त कृपा करके जीवोंको मनुष्यशरीर देकर इन्हें अपने उद्धारका अवसर दिया था और यह विश्वास किया कि ये अपना उद्धार अवश्य कर लेंगे, परन्तु ये नराधम इतने मूढ़ और विश्वासघाती निकले कि जिस मनुष्यजन्मसे मेरी प्राप्ति करनी थी, उससे मेरी प्राप्ति न करके उलटे अधम गतिमें चले गये!

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके दरवाजे जीवात्माका पतन करनेवाले हैं, इसलिये इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये।

व्याख्या— **भोगकी इच्छाको लेकर 'काम' तथा संग्रहकी इच्छाको लेकर 'लोभ' आता है और इन दोनोंमें बाधा पड़नेपर 'क्रोध' आता है। ये तीनों ही आसुरी सम्पत्तिके मूल हैं। सब पाप इन तीनोंसे ही होते हैं।**

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

हे कुन्तीनन्दन! इन नरकके तीनों दरवाजोंसे रहित हुआ जो मनुष्य अपने कल्याणका आचरण करता है, वह उससे परम गतिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— काम-क्रोध-लोभसे रहित होनेका तात्पर्य है—इनके त्यागका उद्देश्य रखना, इनके वशमें न होना। कामसे, क्रोधसे अथवा लोभसे किया गया शुभ-कर्म भी कल्याणकारक नहीं होता। इसलिये इनके त्यागकी तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये। काम-क्रोध-लोभको पकड़े रहनेसे कल्याणका आचरण (जप, ध्यान आदि) करनेपर भी कल्याण नहीं होता; क्योंकि ये सम्पूर्ण पापोंके कारण (गीता ३।३७) तथा सम्पूर्ण अच्छे गुणोंका भक्षण करनेवाले हैं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥

जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धि (अन्तःकरणकी शुद्धि)-को, न सुख (शान्ति)-को और न परम गतिको ही प्राप्त होता है।

व्याख्या— **जैसे रोगी अपनी दृष्टिसे तो कुपथ्यका त्याग और पथ्यका सेवन करता है, पर वह आसक्तिवश कुपथ्य ले लेता है, जिससे उसका रोग और अधिक बढ़ जाता है। ऐसे ही आसुर मनुष्य अपनी दृष्टिसे तो अच्छा काम करते हैं, पर भीतरमें काम, क्रोध और लोभ रहनेके कारण वे शास्त्रविधिकी अवहेलना करके मनमाने ढंगसे काम करने लग जाते हैं, जिससे वे अधोगतिमें चले जाते हैं। वे अभिमानके कारण अपनेको सिद्ध और सुखी मानते हैं**—'सिद्धोऽहं बलवान्सुखी' (गीता १६।१४), **पर वास्तवमें वे न सिद्ध होते हैं, न सुखी। उनके भीतर अभिमान और द्वेषकी अग्नि जलती रहती है।**

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

अत: तेरे लिये कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा जानकर तू इस लोकमें शास्त्रविधिसे नियत कर्तव्य-कर्म करनेयोग्य है अर्थात् तुझे शास्त्रविधिके अनुसार कर्तव्य-कर्म करने चाहिये।

व्याख्या— सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि आसुर स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्यको नहीं जानते। यहाँ भगवान् बताते हैं कि वह आसुर-स्वभाव शास्त्रके अनुसार आचरण करनेसे ही मिटेगा।

पूर्वपक्ष— जो शास्त्र पढ़े हुए नहीं हैं उन्हें कर्तव्यका ज्ञान कैसे होगा?

उत्तरपक्ष— यदि उनका अपने कल्याणका उद्देश्य होगा तो अपने कर्तव्यका ज्ञान स्वत: होगा; क्योंकि आवश्यकता आविष्कारकी जननी है। यदि अपने कल्याणका उद्देश्य नहीं होगा तो शास्त्र पढ़नेपर भी कर्तव्यका ज्ञान नहीं होगा, उलटे अज्ञान बढ़ेगा कि हम अधिक जानते हैं!

जिनके आचरण शास्त्रके अनुसार होते हैं, ऐसे सन्त-महापुरुषोंके आचरणों और वचनोंके अनुसार चलना भी शास्त्रोंके अनुसार ही चलना है। वास्तवमें देखा जाय तो जो महापुरुष परमात्मतत्त्वको प्राप्त हुए हैं, उनके आचरणों, आदर्शों, भावों आदिसे ही शास्त्र बनते हैं।

इतिहासके आधारपर सत्यका निर्णय नहीं हो सकता। कारण कि उस समय समाजकी क्या परिस्थिति थी, और किसने किस परिस्थितिमें क्या किया और क्यों किया, किस परिस्थितिमें क्या कहा और क्यों कहा—इसका पूरा पता नहीं लग सकता। इसलिये इतिहासमें आयी अच्छी बातोंसे मार्गदर्शन तो हो सकता है, पर सत्यका निर्णय शास्त्रके विधि-निषेधसे ही हो सकता है। इतिहाससे विधि प्रबल है और विधिसे भी निषेध प्रबल है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्याय:॥ १६॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ सप्तदशोऽध्यायः

सत्रहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धापूर्वक (देवता आदिका) पूजन करते हैं, उनकी निष्ठा फिर कौन-सी है? सात्त्विकी है अथवा राजसी-तामसी?

व्याख्या—**दैवी सम्पत्तिवाले मनुष्योंके भाव, आचरण और विचार 'सात्त्विक' होते हैं और आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्योंके भाव, आचरण और विचार 'राजस-तामस' होते हैं। भाव, आचरण और विचारके अनुसार ही मनुष्यकी निष्ठा (स्थिति) होती है।**

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—मनुष्योंकी वह स्वभावसे उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्त्विकी तथा राजसी और तामसी—ऐसे तीन तरहकी ही होती है, उसको (तुम मुझसे) सुनो।

व्याख्या— यद्यपि अर्जुनने निष्ठाको जाननेके लिये प्रश्न किया था, तथापि भगवान् उसका उत्तर श्रद्धाको लेकर देते हैं; क्योंकि श्रद्धाके अनुसार ही निष्ठा होती है।

शास्त्रविधिको न जाननेपर भी प्रत्येक मनुष्यमें स्वभावसे उत्पन्न होनेवाली स्वतःसिद्ध श्रद्धा तो रहती है। इसलिये भगवान् उस श्रद्धाके भेद बताते हैं।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह मनुष्य श्रद्धामय है। इसलिये जो जैसी श्रद्धावाला है, वही उसका स्वरूप है अर्थात् वही उसकी निष्ठा (स्थिति) है।

व्याख्या— अर्जुनने पूछा था कि जो मनुष्य शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं, उनकी निष्ठा क्या होती है? तो भगवान् यहाँ उसका उत्तर देते हैं—'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' अर्थात् जो मनुष्य जैसी श्रद्धावाला है, वैसी ही उसकी निष्ठा होगी।

स्वरूप (परमात्माका अंश) तो सबका शुद्ध ही है, पर संग, शास्त्र, विचार, वायुमण्डल आदिको लेकर अन्तःकरणमें किसी एक गुणकी प्रधानता हो जाती है अर्थात् जैसा संग, शास्त्र आदि मिलता है, वैसा ही मनुष्यका अन्तःकरण बन जाता है और उस अन्तःकरणके अनुसार ही उसकी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा बन जाती है। इसलिये मनुष्यको सदा-सर्वदा सात्त्विक संग, शास्त्र, विचार, वायुमण्डल आदिका ही सेवन करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे उसका अन्तःकरण तथा उसके अनुसार उसकी श्रद्धा भी सात्त्विकी बन जायगी, जो उसका उद्धार करनेवाली होगी। इसके विपरीत मनुष्यको राजस-तामस संग, शास्त्र आदिका सेवन कभी नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे उसकी श्रद्धा भी राजसी-तामसी बन जायगी, जो उसका पतन करनेवाली होगी।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक मनुष्य देवताओंका पूजन करते हैं, राजस मनुष्य यक्षों तथा राक्षसोंका और दूसरे जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेतों और भूतगणोंका पूजन करते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित घोर तप करते हैं; जो दम्भ और अहंकारसे अच्छी तरह युक्त हैं; जो भोग-पदार्थ, आसक्ति और हठसे युक्त हैं; जो शरीरमें स्थित पाँच भूतोंको अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीरको तथा अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करनेवाले हैं, उन अज्ञानियोंको तू आसुर निष्ठावाले (आसुरी सम्पत्तिवाले) समझ।

व्याख्या—भगवान्‌ने अबतक उन मनुष्योंकी बात बतायी, जो शास्त्रविधिको न जाननेके कारण उसका 'अज्ञतापूर्वक' त्याग करते हैं; परन्तु अपने इष्ट तथा उसके पूजनमें श्रद्धा रखते हैं। अब इन दो श्लोकोंमें भगवान् उन श्रद्धाविहीन मनुष्योंका वर्णन करते हैं, जो शास्त्रविधिका 'विरोधपूर्वक' त्याग करते हैं। यहाँ श्रद्धा, शास्त्रविधि, प्राणिसमुदाय और भगवान्—इन चारोंके साथ विरोध है। ऐसा विरोध दूसरी जगह आये राजस-तामस वर्णनमें नहीं है।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

आहार भी सबको तीन प्रकारका प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकारके होते हैं अर्थात् शास्त्रीय कर्मोंमें भी गुणोंको लेकर तीन प्रकारकी रुचि होती है। तू उनके इस भेदको सुन।

आयुःसत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या-
आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८॥

आयु, सत्त्वगुण, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता बढ़ानेवाले, स्थिर रहनेवाले, हृदयको शक्ति देनेवाले, रसयुक्त तथा चिकने—ऐसे आहार अर्थात् भोजनके पदार्थ सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

अति कड़वे, अति खट्टे, अति नमकीन, अति गरम, अति तीखे, अति रूखे और अति दाहकारक आहार अर्थात् भोजनके पदार्थ राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं, जो कि दुःख, शोक और रोगोंको देनेवाले हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १० ॥

जो भोजन सड़ा हुआ, रसरहित, दुर्गन्धित, बासी और जूठा है तथा जो महान् अपवित्र (मांस आदि) भी है, वह तामस मनुष्यको प्रिय होता है।

व्याख्या— चार श्लोकोंके उपर्युक्त प्रकरणमें सात्त्विक, राजस और तामस आहारका वर्णन दीखता है; परन्तु वास्तवमें यहाँ आहारका नहीं, प्रत्युत आहारीकी रुचिका ही वर्णन हुआ है। इसलिये यहाँ 'प्रियः', 'सात्त्विकप्रियाः', 'राजसस्येष्टाः' और 'तामसप्रियम्' पदोंमें 'प्रिय' और 'इष्ट' शब्द आये हैं, जो रुचिके वाचक हैं।

सात्त्विक आहारीके लिये पहले भोजनका फल बताकर फिर भोजनके पदार्थोंका वर्णन किया गया है; क्योंकि सात्त्विक मनुष्य किसी भी कार्यमें प्रवृत्त होता है तो सबसे पहले उसके परिणामपर विचार करता है। राजस आहारीके लिये पहले भोजनके पदार्थोंका वर्णन करके फिर उसका फल बताया गया है; क्योंकि राजस मनुष्य रागके कारण सर्वप्रथम भोजनको ही देखता है, उसके परिणामपर प्रायः विचार करता ही नहीं। तामस आहारीके वर्णनमें भोजनका परिणाम बताया ही नहीं गया; क्योंकि तामस मनुष्य मूढ़ताके कारण भोजन और उसके परिणामपर विचार करता ही नहीं। सात्त्विकका पहले विचार है, राजसका पीछे विचार है, तामसका विचार है ही नहीं!

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

यज्ञ करना ही कर्तव्य है—इस तरह मनको समाधान (सन्तुष्ट) करके फलेच्छारहित मनुष्योंद्वारा जो शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

परन्तु हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! जो फलकी इच्छाको लेकर ही किया जाता है अथवा दम्भ (दिखावटीपन)-के लिये भी किया जाता है, उस यज्ञको तुम राजस समझो।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

शास्त्रविधिसे हीन, अन्न-दानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये जानेवाले यज्ञको तामस कहते हैं।

व्याख्या— **इन यज्ञोंमें कर्ता, ज्ञान, क्रिया, धृति, बुद्धि, संग, शास्त्र, खान-पान आदि यदि सात्त्विक होंगे तो वह यज्ञ सात्त्विक हो जायगा, यदि राजस होंगे तो वह यज्ञ राजस हो जायगा, और यदि तामस होंगे तो वह तामस हो जायगा।**

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४॥

देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुषका यथायोग्य पूजन करना, शुद्धि रखना, सरलता, ब्रह्मचर्यका पालन करना और हिंसा न करना—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

व्याख्या— शारीरिक तपमें 'त्याग' मुख्य है; जैसे— पूजनमें अपनेमें बड़प्पनके भावका त्याग है, शुद्धि रखनेमें आलस्य-प्रमादका त्याग है, सरलता रखनेमें अभिमानका त्याग है, ब्रह्मचर्यमें विषय-सुखका त्याग है, अहिंसामें अपने सुखके भावका त्याग है। इस प्रकार त्याग मुख्य होनेसे शारीरिक तप होता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

जो किसीको भी उद्विग्न न करनेवाला, सत्य और प्रिय तथा हितकारक भाषण है, वह तथा स्वाध्याय और अभ्यास (नामजप आदि) भी वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

मनकी प्रसन्नता, सौम्य भाव, मननशीलता, मनका निग्रह और भावोंकी भलीभाँति शुद्धि—इस तरह यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥

परम श्रद्धासे युक्त फलेच्छारहित मनुष्योंके द्वारा (जो) तीन प्रकार (शरीर, वाणी और मन)-का तप किया जाता है, उसको सात्त्विक कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८॥

जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा दिखानेके भावसे भी किया जाता है, वह इस लोकमें अनिश्चित और नाशवान् फल देनेवाला तप राजस कहा गया है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९॥

जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे अपनेको पीड़ा देकर अथवा दूसरोंको कष्ट देनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २०॥

दान देना कर्तव्य है—ऐसे भावसे जो दान देश तथा काल और पात्रके प्राप्त होनेपर अनुपकारीको अर्थात् निष्कामभावसे दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।

व्याख्या—यह सात्त्विक दान वास्तवमें 'त्याग' है। यह वह दान नहीं है, जिसके लिये कहा गया है—'एक गुना दान, सहस्त्रगुना पुण्य'। कारण कि उस दानसे (सहस्त्रके साथ) सम्बन्ध जुड़ता है, जबकि त्यागसे सम्बन्ध टूटता है।

गीतामें वर्णित सात्त्विक गुण त्यागकी तरफ जाता है। इसलिये भगवान्‌ने इसे 'अनामय' कहा है (गीता १४।६)। सत्त्वगुण सम्बन्ध-विच्छेद (त्याग) करता है, रजोगुण सम्बन्ध जोड़ता है और तमोगुण मूढ़ता लाता है।

गीताके अनुसार दूसरेके हितके लिये कर्म करना 'यज्ञ' है, सदा प्रसन्न रहना 'तप' है और उसीकी वस्तु मानकर उसीको दे देना 'दान' है। स्वार्थबुद्धिपूर्वक अपने लिये यज्ञ-तप-दान करना आसुरी अथवा राक्षसी स्वभाव है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ २१॥

किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक और प्रत्युपकारके लिये अथवा फलप्राप्तिका उद्देश्य बनाकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा जाता है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

जो दान बिना सत्कारके तथा अवज्ञापूर्वक अयोग्य देश और कालमें कुपात्रको दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है।

व्याख्या— **शास्त्रमें आया है कि कलियुगमें दान ही एकमात्र धर्म है—**'दानमेकं कलौ युगे' **(मनुस्मृति १।८६, महा०शान्ति० २३१।२८, स्कंद० नागर० ५१।६७, पद्म० सृष्टि० १८।४४१ आदि)। अत: जिस-किसी प्रकारसे भी दान दिया जाय, वह कल्याण ही करता है—***प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान। जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥* **(मानस, ७।१०३ ख)। इसका तात्पर्य है कि कलियुगमें यज्ञ, तप, दान, व्रत आदि शुभकर्मोंको विधिपूर्वक करना कठिन है; अत: किसी तरह देनेकी, त्याग करनेकी आदत पड़ जाय।**

गीतामें जहाँ-कहीं सात्त्विक, राजस और तामस भेद किया गया है, वहाँ जो सात्त्विक विभाग है, वह ग्राह्य है; क्योंकि वह मुक्ति देनेवाला है—'दैवी सम्पद्विमोक्षाय' **और जो राजस-तामस विभाग है, वह त्याज्य है; क्योंकि वह बाँधनेवाला है—**'निबन्धायासुरी मता' (गीता १६।५)।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३॥

ॐ, तत्, सत्—इन तीन प्रकारके नामोंसे जिस परमात्माका निर्देश (संकेत) किया गया है, उसी परमात्मासे सृष्टिके आदिमें वेदों तथा ब्राह्मणों और यज्ञोंकी रचना हुई है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ २४॥

इसलिये वैदिक सिद्धान्तोंको माननेवाले पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ २५॥

'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माके लिये ही सब कुछ है—ऐसा मानकर मुक्ति चाहनेवाले मनुष्योंद्वारा फलकी इच्छासे रहित होकर अनेक प्रकारकी यज्ञ और तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ की जाती हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥

हे पार्थ! 'सत्'—ऐसा यह परमात्माका नाम सत्तामात्रमें और श्रेष्ठ भावमें प्रयोग किया जाता है तथा प्रशंसनीय कर्मके साथ 'सत्' शब्द जोड़ा जाता है।

व्याख्या— परमात्माके अस्तित्व या होनेपनको 'सद्भाव' कहते हैं, जिसका कभी अभाव नहीं होता—'नाभावो विद्यते सतः' (गीता २। १६)। सभी आस्तिकजन यह तो मानते ही हैं कि सर्वोपरि सर्वनियन्ता कोई विलक्षण शक्ति है, जो अपरिवर्तनशील है। संसार प्रतिक्षण बदलनेवाला है। संसार पहले भी नहीं था, आगे भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी प्रतिक्षण नाशकी ओर जा रहा है। समस्त प्राणी-पदार्थ मिले हैं और बिछुड़ जायँगे—यह सभीका अनुभव है। फिर भी संसारमें जो होनापन दीख रहा है, वह वास्तवमें परमात्माका है, संसारका नहीं। परमात्माकी सत्तासे ही प्रतिक्षण बदलनेवाला संसार सत्तावान्‌की तरह दीख रहा है।

अन्तःकरणके श्रेष्ठ भावोंको 'साधुभाव' कहते हैं। परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे श्रेष्ठ भावोंके लिये 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। श्रेष्ठ भाव अर्थात् सद्‌गुण-सदाचार दैवी-सम्पत्ति है। दैवी-सम्पत्ति 'सत्' है। मुक्ति देनेवाले, परमात्मप्राप्ति करानेवाले सब साधन 'सत्' हैं।

यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, व्रत, पूजा-पाठ, विवाह आदि जितने भी शास्त्रविहित शुभ-कर्म हैं, वे स्वयं ही प्रशंसनीय होनेसे सत्कर्म हैं। यदि इन प्रशंसनीय कर्मोंका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ न हो तो ये 'सत्' न कहलाकर केवल शास्त्रविहित कर्ममात्र रह जाते हैं। यद्यपि दैत्य-दानव भी यज्ञ, तप आदि प्रशंसनीय कर्म करते हैं, तथापि असद्भाव अर्थात् अपने स्वार्थ और दूसरेके अहितका भाव होनेसे वे बाँधनेवाले असत्कर्म हो जाते हैं (गीता १७। १९)। उनसे यदि ब्रह्मलोककी प्राप्ति भी हो जाय तो वहाँसे लौटकर आना पड़ता है (गीता ८। १६)। परन्तु भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाले मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होते (गीता ६। ४०); क्योंकि उसका फल 'सत्' होता है। जो कर्म स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके प्राणिमात्रके हितके भावसे किये जाते हैं, वही वास्तवमें प्रशंसनीय कर्म होते हैं।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥

यज्ञ तथा तप और दानरूप क्रियामें जो स्थिति (निष्ठा) है, वह भी 'सत्'—ऐसे कही जाती है और उस परमात्माके निमित्त किया जानेवाला कर्म भी 'सत्'—ऐसा कहा जाता है।

व्याख्या— मुक्ति चाहनेवाले निष्कामभावसे कर्म करते हैं—'मोक्षकाङ्क्षिभिः' (गीता १७। २५), और भक्ति चाहनेवाले भगवान्‌के लिये कर्म करते हैं (गीता ९। २६—२८)।

**अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ २८॥**

हे पार्थ! अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दिया हुआ दान और तपा हुआ तप तथा और भी जो कुछ किया जाय, वह सब 'असत्'—ऐसा कहा जाता है। उसका फल न तो यहाँ होता है और न मरनेके बाद ही होता है अर्थात् उसका कहीं भी सत् फल नहीं होता।

व्याख्या— छोटे-से-छोटा और साधारण-से-साधारण कर्म भी यदि परमात्माके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्वक किया जाय तो वह कर्म 'सत्' हो जाता है अर्थात् परमात्मप्राप्ति करानेवाला हो जाता है। परन्तु बड़े-से-बड़ा यज्ञादि कर्म भी यदि श्रद्धापूर्वक और शास्त्रीय विधि-विधानसे सकामभावपूर्वक किया जाय तो वह कर्म नाशवान् फल देकर नष्ट हो जाता है। यदि वे यज्ञादि कर्म वेदोंपर, शास्त्रोंपर तथा भगवान्पर अश्रद्धा करके, केवल अपनी मान-बड़ाई, आदर-सत्कार पानेके उद्देश्यसे किये जायँ तो वे सब असत् हो जाते हैं। उनका न इस लोकमें फल मिलता है, न परलोकमें अर्थात् उसका कहीं भी सत् (श्रेष्ठ, कल्याणकारक) फल नहीं होता।

पूर्वपक्ष—यदि भगवन्नाम-जप, कीर्तन आदि अश्रद्धापूर्वक किये जायँ तो वे भी असत् हो जायँगे! फिर शास्त्रोंमें आयी नाम-जप, कीर्तन आदिकी अतुलनीय महिमाकी सार्थकता क्या हुई?

उत्तरपक्ष—नाम-जप, कीर्तन आदि यदि अश्रद्धापूर्वक भी किये जाते हैं तो वे असत् नहीं होते; क्योंकि उनमें भगवान्का सम्बन्ध होनेसे वे 'कर्म' नहीं हैं, प्रत्युत 'उपासना' हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

अठारहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ १॥

अर्जुन बोले—हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास और त्यागका तत्त्व अलग-अलग जानना चाहता हूँ।

व्याख्या— **विवेकद्वारा प्रकृतिसे अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेका नाम 'संन्यास' (सांख्ययोग) है, और कर्म तथा फलकी आसक्ति छोड़नेका नाम 'त्याग' (कर्मयोग) है।**

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—कई विद्वान् काम्य कर्मोंके त्यागको संन्यास समझते हैं और कई विद्वान् सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं। कई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ देना चाहिये और कई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ ४॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! तू संन्यास और त्याग—इन दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें मेरा निश्चय सुन; क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! त्याग तीन प्रकारका कहा गया है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उनको तो करना ही चाहिये; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म मनीषियोंको पवित्र करनेवाले हैं।

व्याख्या— **मनीषीका अर्थ है—विचारशील। जो कर्म अपनी कोई कामना न रखकर दूसरोंके हितके लिये किये जाते हैं, वे कर्म पवित्र करनेवाले हो जाते हैं अर्थात् दुर्गुण-दुराचार, पाप आदि मलको दूर करके महान् आनन्द देनेवाले हो जाते हैं। परन्तु वे ही कर्म यदि अपनी कामना रखकर और दूसरोंका अहित करनेके लिये किये जायँ तो वे अपवित्र करनेवाले अर्थात् लोक-परलोकमें महान् दुःख देनेवाले हो जाते हैं।**

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

हे पार्थ! इन (यज्ञ, दान और तपरूप) कर्मोंको तथा दूसरे भी कर्मोंको आसक्ति और फलोंकी इच्छाका त्याग करके करना चाहिये—यह मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है।

व्याख्या— **कर्मासक्ति और फलासक्ति ही खास बन्धन है, जिससे छूटनेपर ही मनुष्य योगारूढ़ होता है (गीता ६। ४)। इसलिये इस श्लोकमें कर्मासक्ति और फलासक्ति—दोनोंके त्यागकी बात आयी है।**

शुभ-कर्म भी निष्कामभाव होनेसे ही कल्याण करने-वाले होते हैं। यदि निष्कामभाव न हो तो शुभ-कर्म भी बन्धनकारक हो जाते हैं—'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन' (गीता ८। १६)।

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥

नियत कर्मका तो त्याग करना उचित नहीं है। उसका मोहपूर्वक त्याग करना तामस कहा गया है।

व्याख्या— शास्त्रोंने जिन कर्मोंको करनेकी आज्ञा दी है, वे सभी 'विहित' कर्म कहलाते हैं। उन विहित कर्मोंमें भी वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिसके लिये जो कर्तव्य आवश्यक है, उसके लिये वह 'नियत' कर्म कहलाता है। विहितकी अपेक्षा भी नियत कर्ममें मनुष्य-की विशेष जिम्मेवारी होती है। जैसे, किसीको पहरेपर खड़ा कर दिया अथवा जल पिलानेके लिये प्याऊपर बैठा दिया तो यह उसके लिये नियत कर्म हो गया। नियत कर्मके त्यागका अधिक दोष लगता है। नियतका त्याग करनेसे ही विप्लव होता है। नियत कर्मका त्याग करनेके कारण ही आजकल समाजमें अव्यवस्था हो रही है। अतः रुपये कम मिलें या अधिक, सुख-आराम कम मिले या अधिक, अपने नियत कर्मका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। नियतका मोहपूर्वक त्याग करना तामस है, जिसका फल अधोगतिकी प्राप्ति है—'अधो गच्छन्ति तामसाः' (गीता १४। १८)।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

जो कुछ कर्म है, वह दुःखरूप ही है—ऐसा समझकर कोई शारीरिक परिश्रमके भयसे उसका त्याग कर दे तो वह राजस त्याग करके भी त्यागके फलको नहीं पाता।

व्याख्या— त्यागका फल शान्ति है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२। १२) और रागका फल दुःख है—'रजसस्तु फलं दुःखम्' (गीता १४। १६)। राजस मनुष्यको त्यागका फल 'शान्ति' तो नहीं मिलती, पर रागका फल 'दुःख' तो मिलता ही है!

राजस मनुष्य त्याग करके भी उसके फल (शान्ति)-को नहीं पाता; क्योंकि उसने जो त्याग किया है, वह अपने सुख-आरामके लिये ही किया है। ऐसा त्याग तो पशु-पक्षी आदि भी करते हैं। अपने सुख-आरामके लिये शुभ-कर्मोंका त्याग करनेसे राजस मनुष्यको उसका फल दण्डरूपसे अवश्य भोगना पड़ता है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

हे अर्जुन! 'केवल कर्तव्यमात्र करना है'— ऐसा समझकर जो नियत कर्म आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है।

व्याख्या— राजस त्यागमें शारीरिक परिश्रमके भयसे और तामस त्यागमें मोहपूर्वक कर्मोंका स्वरूपसे त्याग किया जाता है। परन्तु सात्त्विक त्यागमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं किया जाता, प्रत्युत कर्मोंको कर्तव्यमात्र समझकर निष्कामभावसे तत्परतापूर्वक किया जाता है। राजस तथा तामस त्यागमें बाहरसे तो कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद दीखता है, पर भीतरसे सम्बन्ध जुड़ा रहता है। परन्तु सात्त्विक त्यागमें बाहरसे कर्म करनेपर भी भीतरसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

एक मार्मिक बात है कि कर्तव्यमात्र समझकर जो भी कर्म किया जाता है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। लौकिक साधन (कर्मयोग तथा ज्ञानयोग)-में शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद मुख्य है, इसलिये साधकको प्रत्येक कर्म कर्तव्यमात्र समझकर करना चाहिये। स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेसे तो बन्धन होता है, पर सम्बन्ध न जोड़कर कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करनेसे मुक्ति होती है।

अलौकिक साधन (भक्तियोग)-में भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ना मुख्य है। इसलिये भक्तको जप, ध्यान, कथा, कीर्तन आदि कर्तव्य समझकर नहीं करने चाहिये, प्रत्युत अपने प्रेमास्पदका कार्य (सेवा-पूजन) समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये प्रेमपूर्वक करने चाहिये। जैसे, दवा कर्तव्य समझकर ली जाती है, पर भोजन कर्तव्य समझकर नहीं किया जाता, प्रत्युत अपनी भूख मिटानेके लिये किया जाता है। ऐसे ही भक्तको भी जप, ध्यान आदि कर्तव्य समझकर नहीं करने चाहिये, प्रत्युत अपनी स्वयंकी भूख (आवश्यकता) मिटाकर भगवान्‌के साथ नित्य-सम्बन्ध जाग्रत् करनेके लिये करने चाहिये। यदि वह जप, ध्यान आदि कर्तव्य समझकर करेगा तो भगवत्सम्बन्ध (प्रेम) जाग्रत् नहीं होगा।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥

जो अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह त्यागी, बुद्धिमान्, सन्देहरहित और अपने स्वरूपमें स्थित है।

व्याख्या— मनुष्यका स्वभाव है कि वह रागपूर्वक ग्रहण और द्वेषपूर्वक त्याग करता है। राग और द्वेष— दोनोंसे ही संसारसे सम्बन्ध जुड़ता है। भगवान् कहते हैं कि वास्तवमें वही मनुष्य श्रेष्ठ है जो शुभ कर्मका ग्रहण तो करता है, पर रागपूर्वक नहीं और अशुभ कर्मका त्याग तो करता है, पर द्वेषपूर्वक नहीं।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

कारण कि देहधारी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग करना सम्भव नहीं है। इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—ऐसा कहा जाता है।

व्याख्या—'**कर्मफलत्याग**' **का तात्पर्य है—कर्मफलकी इच्छाका त्याग। कारण कि कर्मफलका त्याग हो ही नहीं सकता; जैसे—शरीर भी कर्मफल है, फिर उसका त्याग कैसे होगा? भोजन करनेपर तृप्तिका त्याग कैसे होगा? खेती करनेपर अन्नका त्याग कैसे होगा? अतः साधकको कर्मफलकी इच्छाका त्याग करना है। फलेच्छाका त्याग करनेसे साधक सुखी-दुःखी नहीं होगा। इसलिये गीतामें फलेच्छाके त्यागको ही फलका त्याग कहा गया है। कर्मयोगमें कर्मफलकी इच्छाका त्याग होता है और ज्ञानयोगमें कर्तृत्वाभिमानका।**

बाहरका त्याग वास्तवमें त्याग नहीं है, प्रत्युत भीतरका त्याग ही त्याग है। यदि कोई बाहरसे त्याग करके एकान्तमें, वनमें या हिमालयमें चला जाय तो भी संसारका बीज शरीर तो उसके साथ है ही। मरनेवालेका अपने शरीर-सहित सब व्यक्तियों और पदार्थोंका त्याग हो जाता है, पर इससे उसका मोक्ष नहीं हो जाता। अतः हमारे भीतरकी कामना-ममता-आसक्ति ही बाँधनेवाली हैं, संसार बाँधनेवाला नहीं है। इसलिये अपने लिये कुछ न करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है—'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते' (**गीता ४। २३**)**। यदि कोई समाधि लगा ले तो उस समय बाहरकी क्रियाओंका सम्बन्ध छूट जाता है। परन्तु समाधि भी एक क्रिया है, इसलिये समाधिसे भी व्युत्थान हो जाता है; क्योंकि समाधिमें प्रकृतिजन्य कारण-शरीरका सम्बन्ध बना रहता है।**

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मण: फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंको कर्मोंका इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके बाद भी होता है; परन्तु कर्मफलका त्याग करनेवालोंको कहीं भी नहीं होता।

व्याख्या— जिस परिस्थितिको मनुष्य चाहता है, वह 'इष्ट' (अनुकूल) कर्मफल है, जिस परिस्थितिको मनुष्य नहीं चाहता, वह 'अनिष्ट' (प्रतिकूल) कर्मफल है, और जिसमें कुछ भाग इष्टका तथा कुछ भाग अनिष्टका होता है, वह 'मिश्रित' कर्मफल है। वास्तवमें देखा जाय तो संसारमें प्राय: मिश्रित ही फल होता है अर्थात् इष्टमें भी आंशिक अनिष्ट और अनिष्टमें भी आंशिक इष्ट रहता ही है। जो मनुष्य फलकी इच्छा रखकर कर्म करते हैं, उन्हें उपर्युक्त तीनों कर्मफल अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति-के रूपमें प्राप्त होते हैं, जिनसे वे सुखी-दु:खी होते रहते हैं। अनुकूल परिस्थितिसे सुखी होना और प्रतिकूल परिस्थितिसे दु:खी होना ही बन्धन है। परन्तु फलेच्छाका त्याग करके कार्य करनेवाले मनुष्योंको इस जन्ममें या मरनेके बाद भी कर्मफल भोगना नहीं पड़ता। पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके अनुसार इस जन्ममें उसके सामने अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति तो आती है, पर वे उनसे सुखी-दु:खी नहीं होते।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

हे महाबाहो! कर्मोंका अन्त करनेवाले सांख्य-सिद्धान्तमें सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये ये पाँच कारण बताये गये हैं, इनको तू मुझसे समझ।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४॥

इसमें (कर्मोंकी सिद्धिमें) अधिष्ठान तथा कर्ता और अनेक प्रकारके करण एवं विविध प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ कारण दैव (संस्कार) है।

व्याख्या— यहाँ आत्माको अकर्ता बतानेके लिये पाँच कारणोंका वर्णन किया गया है। इन पाँचोंमें कर्तृत्वका त्याग होनेपर कर्मोंका अन्त (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाता है। कर्मोंकी सिद्धिमें वे पाँच कारण इस प्रकार हैं—

१-अधिष्ठान—शरीर।

२-कर्ता—अपरा प्रकृतिके अहंकारके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला अविवेकी मनुष्य।

३-करण—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि तथा अहंकार—ये तेरह करण।

४-करणोंकी अलग-अलग चेष्टाएँ।

५-स्वभाव अथवा अन्तःकरणके अच्छे-बुरे संस्कार। क्रियाका वेग और स्वभाव—दोनों एक ही हैं ('स्वभावस्तु प्रवर्तते' गीता ५। १४)।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

मनुष्य शरीर, वाणी और मनके द्वारा शास्त्रविहित अथवा शास्त्रविरुद्ध जो कुछ भी कर्म आरम्भ करता है, उसके ये (पूर्वोक्त) पाँचों हेतु होते हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

परन्तु ऐसे पाँच हेतुओंके होनेपर भी जो उस (कर्मोंके) विषयमें केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता देखता है, वह दुष्ट बुद्धिवाला ठीक नहीं देखता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है अर्थात् उसने विवेकको महत्त्व नहीं दिया है।

व्याख्या— सब कारकोंमें कर्ता मुख्य है। कर्तामें चेतनकी झलक आती है, अन्य कारकोंमें नहीं। वास्तवमें 'कर्ता' नाम चेतनका नहीं है, प्रत्युत चेतनद्वारा जड़से माने हुए सम्बन्धका है—'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' (गीता ३। २७)। इसलिये भगवान्‌ने प्रस्तुत श्लोकमें अपने वास्तविक स्वरूप (चेतन)-को कर्ता माननेवालेकी निन्दा की है। स्वरूपमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व—दोनों ही नहीं हैं (गीता १३। ३१)। मूलमें ये नहीं हैं, तभी इनका त्याग होता है।

वास्तवमें कर्ता कोई नहीं है। न चेतन कर्ता है, न जड़। यदि किसीको कर्ता मानना ही पड़े तो साधकके लिये यही उचित है कि वह जड़को कर्ता माने। गीतामें भगवान्‌ने कर्मोंके होनेमें पाँच कारण बताये हैं— १-प्रकृति (३। २७, १३। २९), २-गुण (३। २८, १४। १९), ३-इन्द्रियाँ (५। ९), ४-स्वभाव (५। १४, ३। ३३), ५-पाँच हेतु (१८। १४)। वास्तवमें कर्मोंके होनेमें मूल कारण एक 'प्रकृति' ही है। अतः कर्तृत्व प्रकृतिमें ही है, स्वरूपमें नहीं।

साधक खाने-पीने, सोने-जागने आदि लौकिक क्रियाओंको तो विचारद्वारा प्रकृतिमें होनेवाली सुगमतासे मान सकता है, पर वह जप, ध्यान, समाधि आदि पारमार्थिक क्रियाओंको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये मानता है तो यह वास्तवमें साधकके लिये बाधक है। कारण कि ज्ञानयोगकी दृष्टिसे क्रिया चाहे ऊँची-से-ऊँची हो अथवा नीची-से-नीची, वह एक जातिकी (प्राकृत) ही है। लाठी घुमाना और माला फेरना—दोनों क्रियाएँ अलग-अलग होनेपर भी प्रकृतिमें ही हैं। तात्पर्य है कि खाने-पीने, सोने-जागने आदिसे लेकर जप, ध्यान, समाधितक सम्पूर्ण लौकिक-पारमार्थिक क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं। प्रकृतिके सम्बन्धके बिना कोई क्रिया सम्भव ही नहीं है। अतः साधकको चाहिये कि वह पारमार्थिक क्रियाओंका त्याग तो न करे, पर उनमें अपना कर्तृत्व न माने अर्थात् उन्हें अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये न माने। क्रिया चाहे लौकिक हो, चाहे पारमार्थिक हो, उसका महत्त्व वास्तवमें जड़ताका ही महत्त्व है। शास्त्रविहित होनेके कारण पारमार्थिक क्रियाओंका अन्तःकरणमें जो विशेष महत्त्व रहता है, वह भी जड़ताका ही महत्त्व होनेसे साधकके लिये बाधक है। भगवान्‌के लिये की गयी उपासनामें भगवत्कृपाकी प्रधानता होती है, इसलिये इसमें भी साधकका कर्तृत्व नहीं है। पारमार्थिक क्रियाओंका उद्देश्य परमात्मा होनेसे वे कल्याणकारक हो जाती हैं। ज्यों-ज्यों क्रियाकी गौणता और भगवत्सम्बन्धकी मुख्यता होती है, त्यों-त्यों अधिक लाभ होता है। क्रियाकी मुख्यता होनेपर वर्षोंतक साधन करनेपर भी लाभ नहीं होता। अतः क्रियाका महत्त्व न होकर भगवान्‌में प्रियता होनी चाहिये। प्रियता ही भजन है, क्रिया नहीं।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ १७॥

जिसका अहंकृतभाव ('मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह (युद्धमें) इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।

व्याख्या—अहंकृतभाव नहीं होनेका तात्पर्य है—अहंतारहित होना अर्थात् 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव न होना। बुद्धि लिप्त नहीं होनेका तात्पर्य है—कामना, ममता और स्वार्थभावसे रहित होना अर्थात् 'मैं भोक्ता हूँ'—ऐसा भाव न होना। स्वरूपमें न कर्तापन है, न भोक्तापन। केवल जड़ शरीरके साथ सम्बन्ध मानकर जीव जिस अहंभावको स्वीकार करता है, उसी अहंभावसे उसमें कर्तापन और भोक्तापन आ जाता है।

अर्जुनने कहा था कि इन आततायियोंको और गुरुजनोंको मारनेसे हमें पाप लगेगा (गीता १।३६, २।५)। इसलिये भगवान् यहाँ कहते हैं कि यदि अहंता और बुद्धिकी लिप्तता न हो तो इनके मारनेसे पाप लगनेकी बात ही क्या है, सम्पूर्ण प्राणियोंको मारनेसे भी पाप नहीं लगेगा! बुद्धि कामना, ममता और स्वार्थभावसे लिप्त होती है। गंगाजीमें कोई डूबकर मर जाता है तो उससे गंगाजीको पाप नहीं लगता और कोई उसका जल पीता है, स्नान करता है, खेती करता है तो उससे गंगाजीको पुण्य नहीं लगता। कारण कि गंगाजीमें अहंकृतभाव और बुद्धिकी लिप्तता नहीं है। डॉक्टरमें कामना, ममता और स्वार्थबुद्धि नहीं होती तो आपरेशनमें रोगीका अंग काटनेपर भी उसे पाप नहीं लगता।

ज्ञानयोगसे अहंकृतभावका नाश होता है और कर्मयोगसे बुद्धिकी लिप्तताका नाश होता है। दोनोंमेंसे किसी एकका नाश होनेपर दूसरा भी नष्ट हो जाता है। अहंकृतभावके कारण ही जीवमें भोग और मोक्षकी इच्छा पैदा होती है। अहंकृतभाव मिटनेसे भोगेच्छा भी मिट जाती है। भोगेच्छा मिटनेपर मोक्षकी इच्छा स्वतः पूरी हो जाती है; क्योंकि मोक्ष स्वतःसिद्ध है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता—इन तीनोंसे कर्मप्रेरणा होती है तथा करण, कर्म और कर्ता—इन तीनोंसे कर्मसंग्रह होता है।

व्याख्या— **जब मनुष्यके भीतर अहंकार और लिप्तता रहती है, तब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इस त्रिपुटीसे 'कर्मप्रेरणा' अर्थात् कर्म करनेमें प्रवृत्ति होती है कि मैं अमुक कार्य करूँगा तो मुझे अमुक फल मिलेगा। कर्मप्रेरणा होनेसे कर्ता, करण और कर्म—इनसे 'कर्मसंग्रह' अर्थात् पाप-कर्म अथवा पुण्य-कर्मका संग्रह होता है। यदि कर्मसंग्रह न हो तो कर्म बाँधनेवाला नहीं होता, केवल क्रियामात्र होती है।**

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९॥

गुणोंका विवेचन करनेवाले शास्त्रमें गुणोंके भेदसे ज्ञान और कर्म तथा कर्ता तीन-तीन प्रकारसे ही कहे जाते हैं, उनको भी तुम यथार्थरूपसे सुनो।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥

जिस ज्ञानके द्वारा साधक सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें विभागरहित एक अविनाशी भाव (सत्ता)-को देखता है, उस ज्ञानको तुम सात्त्विक समझो।

व्याख्या—अलग-अलग वस्तु, व्यक्ति आदिमें जो 'है'-पन दीखता है, वह उस वस्तु, व्यक्ति आदिका नहीं है, प्रत्युत उन सबमें परिपूर्ण एक परमात्माका है। उन वस्तु, व्यक्ति आदिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; क्योंकि उनमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। परन्तु अपनी अज्ञतासे उनकी सत्ता दीखती है। जब अज्ञता मिट जाती है, तब अलग-अलग वस्तु, व्यक्ति आदिका अलग-अलग ज्ञान और यथायोग्य अलग-अलग व्यवहार होते हुए भी वह उनमें परिपूर्ण एक निर्विकार तत्त्वको देखता है।

साधकको दृष्टिमें प्राणियोंकी भी सत्ता रहनेके कारण यह 'सात्त्विक ज्ञान' (विवेक) कहा गया है। यदि उसकी दृष्टिमें प्राणियोंकी सत्ता न रहे, केवल एक अविनाशी सत्ता ही रहे तो यह गुणातीत 'तत्त्वज्ञान' (ब्रह्मकी प्राप्ति) ही है। वह अविनाशी सत्ता सब जगह समानरूपसे विद्यमान है। उस सत्ताके साथ हमारी स्वाभाविक एकता है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥

परन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंमें अलग-अलग रूपसे अनेक भावोंको अलग-अलग जानता है, उस ज्ञानको तुम राजस समझो।

व्याख्या— राजस ज्ञानमें रागकी मुख्यता होती है, क्रिया, पदार्थ और व्यक्तिको सत्ता देकर उनके साथ रागपूर्वक सम्बन्ध जोड़नेके कारण सब अलग-अलग दीखते हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

किन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णकी तरह आसक्त रहता है तथा जो युक्तिरहित, वास्तविक ज्ञानसे रहित और तुच्छ है, वह तामस कहा गया है।

व्याख्या— तामस मनुष्यमें मूढ़ताकी प्रधानता होती है। वह उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पाञ्चभौतिक शरीरको ही अपना स्वरूप मानता है।

इस श्लोकमें 'ज्ञान' शब्द न देनेका तात्पर्य है कि वास्तवमें यह ज्ञान नहीं है, प्रत्युत अज्ञान ही है। भागवतमें इसे 'पशुबुद्धि' कहा गया है—'पशुबुद्धिमिमां जहि' (१२।५।२)।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तृत्वाभिमानसे रहित हो तथा फलेच्छारहित मनुष्यके द्वारा बिना राग-द्वेषके किया हुआ हो, वह सात्त्विक कहा जाता है।

व्याख्या— **जबतक अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे भी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक वह 'सात्त्विक कर्म' है। प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर यह 'अकर्म' हो जाता है।**

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

परन्तु जो कर्म भोगोंकी इच्छासे अथवा अहंकारसे और परिश्रमपूर्वक किया जाता है, वह राजस कहा गया है।

व्याख्या— **कर्म करते समय प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें परिश्रम होता ही है; परन्तु शरीरमें राग रहनेके कारण राजस मनुष्य शरीरका आराम चाहता है, जिससे उसे थोड़े काममें भी अधिक परिश्रम प्रतीत होता है।**

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५॥

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न देखकर मोहपूर्वक आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है।

व्याख्या— तामस मनुष्य अपनी शक्ति, परिणाम आदिका विचार न करके मूढ़तासे काम करता है। वह स्वाभाविक ही ऐसे काम करता है, जिनसे दूसरोंको बाधा पहुँचे; जैसे—रास्तेमें खड़े होकर बात करने लग जाना, रास्तेमें स्कूटर, साइकिल आदि खड़ी कर देना, दरवाजेके बीचमें खड़े हो जाना, आदि-आदि। दूसरोंको लगनेवाली बाधाकी तरफ उसका ध्यान जाता ही नहीं!

सात्त्विक स्वभाव स्वतः उत्थानकी ओर जाता है, राजस स्वभावमें उत्थान रुक जाता है और तामस स्वभाव स्वतः पतनकी ओर जाता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

जो कर्ता रागरहित, कर्तृत्वाभिमानसे रहित, धैर्य और उत्साहयुक्त तथा सिद्धि और असिद्धिमें निर्विकार है, वह सात्त्विक कहा जाता है।

व्याख्या—सात्त्विक मनुष्य संग और अहंवदनशीलता—इन दो बातोंसे रहित होता है, धृति और उत्साह—इन दो बातोंसे युक्त होता है, तथा सिद्धि और असिद्धि—इन दो बातोंमें निर्विकार (सम) रहता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

जो कर्ता रागी, कर्मफलकी इच्छावाला, लोभी, हिंसाके स्वभाववाला, अशुद्ध और हर्ष-शोकसे युक्त है, वह राजस कहा गया है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ २८॥

जो कर्ता असावधान, अशिक्षित, ऐंठ-अकड़वाला, जिद्दी, उपकारीका अपकार करनेवाला, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री है, वह तामस कहा जाता है।

व्याख्या—छब्बीसवाँ, सत्ताईसवाँ और अट्ठाईसवाँ श्लोक 'कर्ता' को लेकर कहे गये हैं। कर्ता जैसा होता है, वैसे ही कर्म होते हैं। कर्ता जिन गुणोंवाला होता है, उन्हीं गुणोंके अनुसार कर्मोंका रूप होता है। करण भी कर्ताके अनुरूप ही होते हैं। कर्ता सात्त्विक, राजस अथवा तामस होगा तो उसके द्वारा होनेवाले कर्म भी सात्त्विक, राजस अथवा तामस हो जाते हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ २९॥

हे धनञ्जय! अब तू गुणोंके अनुसार बुद्धि और धृतिके भी तीन प्रकारके भेद अलग-अलग रूपसे सुन, जो कि मेरे द्वारा पूर्णरूपसे कहे जा रहे हैं।

व्याख्या— **मनुष्य कोई भी कार्य करता है, बुद्धिपूर्वक ही करता है। उस कार्यकी सिद्धिके लिये धृतिकी अत्यन्त आवश्यकता है। धृति (धारणशक्ति)-के बिना बुद्धि अपने निश्चयपर दृढ़ नहीं रह सकती। यदि मनुष्यकी बुद्धिमें विचार-शक्ति तेज है और उसे धारण करनेकी शक्ति श्रेष्ठ है तो उसकी बुद्धि अपने निश्चित किये हुए लक्ष्यसे विचलित नहीं होती, जिससे उसका कार्य सिद्ध हो जाता है।**

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३०॥

हे पृथानन्दन! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।

व्याख्या— **प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको—दोनोंको जाननेका तात्पर्य संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे ही है। अगर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद न हो तो वह जानना वास्तवमें जानना नहीं है, प्रत्युत सीखना है।**

गीताका 'सात्त्विक' गुण गुणातीत करनेवाला, संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाला है। इसलिये इसमें बन्धन और मोक्षतकका विचार होता है—'बन्धं मोक्षं च या वेत्ति'। **सात्त्विकी बुद्धिमें वह विवेक होता है, जो तत्त्वज्ञानमें परिणत होता है। विवेकवती बुद्धि ही यह जानती है कि ब्रह्मलोककी प्राप्तितक सब बन्धन है।**

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥

हे पार्थ! मनुष्य जिसके द्वारा धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी ठीक तरहसे नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है।

व्याख्या—जैसे जलमें मिट्टी घुल जानेसे जलमें स्वच्छता, निर्मलता नहीं रहती, ऐसे ही बुद्धिमें रजोगुण (राग) आ जानेसे बुद्धिमें उतनी स्वच्छता, निर्मलता नहीं रहती। इसलिये धर्म-अधर्म आदिको समझनेमें कठिनता पड़ती है। जो मनुष्य धर्म-अधर्म तथा कर्तव्य-अकर्तव्यको भी ठीक तरहसे नहीं जानता, वह बन्धन और मोक्षको कैसे जानेगा? नहीं जान सकता। बुद्धि रागात्मिका होनेसे वह इनको ठीक तरहसे नहीं जानता; क्योंकि रागकी मुख्यता होनेसे वह विवेकको महत्त्व नहीं दे पाता। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका रंग चढ़नेसे उसका विवेक लुप्त हो जाता है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥

हे पृथानन्दन! तमोगुणसे घिरी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म—ऐसा मान लेती है और सम्पूर्ण चीजोंको उलटा मान लेती है, वह तामसी है।

व्याख्या—जिनकी बुद्धि तामसी होती है, उन्हें व्यवहार और परमार्थमें सब जगह उलटा ही दीखता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमानमें देखनेमें आ रहा है। जैसे, पशुओंके विनाशको 'मांसका उत्पादन' कहा जाता है! गर्भपातरूपी महापापको और मनुष्यकी उत्पादक शक्तिके विनाशको 'परिवार-कल्याण' कहा जाता है! स्त्रियोंकी उच्छृंखलताको, मर्यादाके नाशको 'नारीमुक्ति' कहा जाता है! पहले स्त्री घरकी स्वामिनी (गृहलक्ष्मी) होती थी, अब घरसे बाहर अनेक पुरुषोंकी दासता (नौकरी) करनेको 'नारीकी स्वाधीनता' कहा जाता है! बालकोंको स्कूलमें भरती करनेके लिये दी गयी रिश्वत, घूसको 'दान' (डोनेशन) कहा जाता है! धार्मिकताको 'साम्प्रदायिकता' और धर्म-विरुद्धको 'धर्म-निरपेक्ष' कहा जाता है! जब विनाशकाल समीप आता है, तभी ऐसी विपरीत, तामसी बुद्धि उत्पन्न होती है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

हे पार्थ! समतासे युक्त जिस अव्यभिचारिणी धृतिके द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है अर्थात् संयम रखता है, वह धृति सात्त्विकी है।

व्याख्या—जीव परमात्माका अंश है, इसलिये परमात्माके सिवाय कहीं भी जाना 'व्यभिचार' है, और केवल परमात्माकी तरफ चलना 'अव्यभिचार' है। केवल परमात्माकी तरफ चलनेवाली धृति 'अव्यभिचारिणी धृति' है। इस धृतिसे मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंपर आधिपत्य हो जाता है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

हे पृथानन्दन अर्जुन! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धृतिके द्वारा धर्म, काम (भोग) और धनको अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है।

व्याख्या—राजसी धारणशक्तिसे मनुष्य अपनी विविध कामनाओंकी पूर्तिके लिये ही धर्मका अनुष्ठान करता है, भोग-पदार्थोंको भोगता है और धनका संग्रह करता है। संसारमें अत्यन्त राग (आसक्ति) होनेके कारण राजस मनुष्य जो कुछ भी शुभ-कर्म करता है, उसमें उसकी यही कामना रहती है कि इस कर्मसे मुझे इस लोकमें भी सुख-आराम, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदि मिले और परलोकमें भी सुखभोग मिले।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ ३५॥

हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृतिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और घमण्डको भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है, वह धृति तामसी है।

व्याख्या—निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख, घमण्ड आदि दोष तो रहेंगे ही, ये दूर हो ही नहीं सकते—ऐसा निश्चय करनेवाले तामस मनुष्य 'दुर्मेधा' हैं। ऐसे मनुष्योंका दोषोंको छोड़नेकी तरफ ध्यान ही नहीं जाता, छोड़नेकी हिम्मत ही नहीं होती, प्रत्युत वे इनको स्वाभाविक ही धारण किये रहते हैं। इन दोषोंको छोड़नेसे भला होगा—यह बात उनकी समझमें आती ही नहीं!

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७॥

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! अब तीन प्रकारके सुखको भी तुम मुझसे सुनो। जिसमें अभ्याससे रमण होता है और जिससे दुःखोंका अन्त हो जाता है, ऐसा वह परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे पैदा होनेवाला जो सुख (सांसारिक आसक्तिके कारण) आरम्भमें विषकी तरह और परिणाममें अमृतकी तरह होता है, वह सुख सात्त्विक कहा गया है।'

व्याख्या—सत्संग, स्वाध्याय, ध्यान, जप, कीर्तन आदिसे जो सुख होता है, वह परमात्माके सम्बन्धसे होनेके कारण 'सात्त्विक' कहा गया है। कारण कि वह सुख मान-बड़ाई, सुख-आराम, रुपये, भोग आदि विषयेन्द्रिय-सम्बन्धका (राजस) भी नहीं है और प्रमाद, आलस्य, निद्राका (तामस) भी नहीं है।

पूर्वपक्ष—चौदहवें अध्यायमें तो सात्त्विक सुखको बाँधनेवाला बताया था—'सुखसङ्गेन बध्नाति' (१४। ६)। पर यहाँ उसे दुःखोंका नाश करनेवाला बताते हैं— 'दुःखान्तं च निगच्छति'। इसका सामंजस्य कैसे करेंगे?

उत्तरपक्ष—इसका तात्पर्य यह है कि सात्त्विक सुखमें रमण (भोग) करनेसे वह बाँधनेवाला हो जाता है अर्थात् गुणातीत नहीं होने देता। यदि रमण न करे तो वह सात्त्विक सुख दुःखोंका नाश करनेवाला हो जाता है। सुख भोगनेसे दुःखोंका नाश नहीं होता। भोगका त्याग करनेसे ही योग होता है। इसलिये सात्त्विक सुखसे भी असंगता होनी चाहिये। संग होनेसे बन्धनकारक रजोगुण आ जाता है। सत्त्वगुणमें रजोगुण आनेसे पतन होता है।

विवेकको महत्त्व न देनेके कारण सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह दीखता है। राजस मनुष्य विवेकको महत्त्व नहीं देता। अतः सात्त्विक सुखका आरम्भमें विषकी तरह दीखना राजसपना है। तात्पर्य है कि सात्त्विक सुख दुःखदायी नहीं होता, प्रत्युत मनुष्यकी बुद्धिमें राजसपना होनेसे सात्त्विक सुख भी उसको विषकी तरह दुःखदायी दीखता है। उसका उद्देश्य तो सात्त्विक सुखका है, पर भीतर राजस सुखमें राग है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

जो सुख इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे होता है, वह आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें विषकी तरह प्रतीत होता है; अतः वह सुख राजस कहा गया है।

व्याख्या— जैसे भोजन आरम्भमें बहुत प्रिय लगता है, पर भोजन करते-करते जब पेट भर जाता है, भोजन करनेकी शक्ति क्षीण हो जाती है, तब उससे अरुचि हो जाती है। फिर जो भोजन आरम्भमें सुख देनेवाला प्रतीत होता था, वही दुःख देनेवाला हो जाता है। उस समय कोई व्यक्ति जबर्दस्ती खिलाये तो वह शत्रुकी तरह प्रतीत होता है! यही बात सभी सांसारिक भोगोंमें लागू होती है। कोई भी सांसारिक सुख अखण्ड नहीं रहता। आरम्भमें सांसारिक सुख अमृतकी तरह बहुत प्रिय लगता है; परन्तु उसे भोगते-भोगते जब परिणाममें वह सुख नीरसतामें परिणत हो जाता है, उस सुखसे बिलकुल अरुचि हो जाती है, तब वही सुख विषकी तरह दुःखदायी हो जाता है। अविवेकी मनुष्य आरम्भको ही महत्त्व देता है। आरम्भ तो सदा रहता नहीं, पर उसकी कामना सदा रहती है, जो सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। परिणामको देखनेकी योग्यता मनुष्यमें ही है। परिणामको न देखना पशुता है। इसलिये विवेकी मनुष्य आरम्भको न देखकर परिणामको देखता है, इसलिये वह भोगोंमें आसक्त नहीं होता—'न तेषु रमते बुधः' (गीता ५। २२)।

वास्तवमें आरम्भ (संयोग) मुख्य नहीं है, प्रत्युत अन्त (वियोग) ही मुख्य है। मनुष्य आरम्भकालको चाहता है, पर वह रहता नहीं; क्योंकि यह नियम है कि प्रत्येक आरम्भका अन्त होता ही है। जिसका आरम्भ और अन्त होता है, उसकी इच्छासे ही दुःखोंकी उत्पत्ति होती है। परन्तु राजसी वृत्तिके कारण आरम्भ (संयोग) अच्छा प्रतीत होता है। यदि मनुष्य आरम्भकालके सुखको महत्त्व न दे तो दुःख कभी आयेगा ही नहीं। आरम्भको देखनेसे भोग होता है और परिणामको देखनेसे योग।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला जो सुख आरम्भमें और परिणाममें भी अपनेको मोहित करनेवाला है, वह सुख तामस कहा गया है।

व्याख्या— जब तमोगुणी प्रमाद-वृत्ति आती है, तब वह सत्त्वगुणके विवेक-ज्ञानको ढक देती है और जब तमोगुणी निद्रा-आलस्य-वृत्ति आती है, तब वह सत्त्वगुणके प्रकाशको ढक देती है। तात्पर्य है कि विवेक-ज्ञानके ढकनेपर प्रमाद होता है और प्रकाशके ढकनेपर आलस्य तथा निद्रा आती है। तामस मनुष्यको निद्रा, आलस्य और प्रमाद—तीनोंसे सुख मिलता है।

तामस मनुष्यमें मोह रहता है (गीता १४। ८)। मोह विवेकमें बाधक होता है। तामसी वृत्ति विवेक जाग्रत् नहीं होने देती। इसलिये तामस मनुष्यका विवेक मोहके कारण लुप्त हो जाता है, जिससे वह आरम्भ या अन्तको देखता ही नहीं।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

पृथ्वीमें या स्वर्गमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवाय और कहीं भी वह (ऐसी कोई) वस्तु नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो।

व्याख्या—**दसवें अध्यायमें भगवान्‌ने भक्ति (विश्वास)-की दृष्टिसे सम्पूर्ण वस्तुओंको अपनेसे उत्पन्न होनेवाली बताया था (१०। ३९)। यहाँ भगवान् ज्ञान (विवेक)-की दृष्टिसे सम्पूर्ण वस्तुओंको प्रकृति-जन्य गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली बताते हैं। कारण कि विवेकीकी दृष्टिमें सत् और असत् दोनों रहते हैं, पर भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान् ही रहते हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। विवेकमार्गमें असत्‌का, गुणोंका त्याग मुख्य है, पर भक्तिमार्गमें भगवान्‌का सम्बन्ध मुख्य है।**

संसारकी कोई भी वस्तु तीनों गुणोंसे रहित नहीं है—यह बात अज्ञानीकी दृष्टिसे कही गयी है, तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे नहीं। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टि सत्तामात्र स्वरूपकी तरफ रहती है, जो स्वतःस्वाभाविक गुणातीत है (गीता १३। ३१)।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न हुए तीनों गुणोंके द्वारा विभक्त किये गये हैं।

व्याख्या— कर्मयोगके प्रकरणमें भगवान्‌ने नियत कर्मोंके त्यागको अनुचित बताते हुए फल एवं आसक्तिका त्याग करके नियत कर्मोंको करनेकी बात कही (गीता १८। ७—९), और सांख्ययोगके प्रकरणमें नियत कर्मको कर्तृत्वाभिमान, फलेच्छा तथा राग-द्वेषसे रहित होकर करनेकी बात कही (गीता १८। २३)। अब भगवान् यह बताते हैं कि किस वर्णके लिये कौन-से कर्म नियतकर्म हैं और उन नियत कर्मोंको कैसे किया जाय?

मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, उसके अन्तःकरणमें उस कर्मके संस्कार पड़ते हैं और उन संस्कारोंके अनुसार उसका स्वभाव बनता है। इस प्रकार पूर्वके अनेक जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके संस्कारोंके अनुसार मनुष्यका जैसा स्वभाव होता है, उसीके अनुसार उसमें सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इन गुणवृत्तियोंके तारतम्यके अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके कर्मोंका विभाग किया गया है (गीता ४। १३)। कारण कि मनुष्यमें जैसी गुणवृत्तियाँ होती हैं, वैसा ही वह कर्म करता है।

पूर्वपक्ष— चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने कहा था कि चारों वर्णोंकी रचना मैंने गुणों और कर्मोंके विभागपूर्वक की है—'गुणकर्मविभागशः' (४। १३)। पर यहाँ भगवान् कहते हैं कि चारों वर्णोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न हुए तीनों गुणोंके द्वारा विभक्त किये गये हैं—'स्वभावप्रभवैर्गुणैः'। इसका सामञ्जस्य कैसे करेंगे?

उत्तरपक्ष— चौथे अध्यायमें तो चारों वर्णोंके उत्पन्न होनेकी बात कही गयी है और यहाँ चारों वर्णोंके कर्मोंकी बात कही गयी है। तात्पर्य यह हुआ कि चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने बताया कि चारों वर्णोंका जन्म पूर्वजन्मके गुणोंके अनुसार हुआ है, और यहाँ बताते हैं कि जन्मके बाद चारों वर्णोंके अमुक-अमुक कर्म होने चाहिये, जिनके अनुसार उनकी आगे गति होगी।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥

मनका निग्रह करना; इन्द्रियोंको वशमें करना; धर्म-पालनके लिये कष्ट सहना; बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना; दूसरोंके अपराधको क्षमा करना; शरीर, मन आदिमें सरलता रखना; वेद, शास्त्र आदिका ज्ञान होना; यज्ञविधिको अनुभवमें लाना और परमात्मा, वेद आदिमें आस्तिकभाव रखना—ये सब-के-सब ही ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।

व्याख्या—**वर्ण-परम्परा शुद्ध हो तो ये गुण ब्राह्मणमें स्वाभाविक होते हैं। परन्तु वर्ण-परम्परामें अशुद्धि (वर्णसंकरता) आनेपर ये गुण स्वाभाविक नहीं होते, इनमें कमी आ जाती है।**

पूर्वश्लोकमें 'स्वभावप्रभवैर्गुणैः' **कहा, इसलिये यहाँ स्वभावज कर्म बताते हैं। स्वभाव बननेमें जन्म मुख्य है, फिर जन्मके बाद संग मुख्य है। संग, स्वाध्याय, अभ्यास आदिके कारण स्वभाव बदल जाता है।**

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

शूरवीरता, तेज, धैर्य, प्रजाके संचालन आदिकी विशेष चतुरता तथा युद्धमें कभी पीठ न दिखाना, दान करना और शासन करनेका भाव—ये सब-के-सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

खेती करना, गायोंकी रक्षा करना और व्यापार करना—ये सब-के-सब वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा चारों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।

व्याख्या—गुण और कर्मके अनुसार ही मनुष्यका जन्म होता है, इसलिये मनुष्यकी जाति जन्मसे ही मानी जाती है। भोजन, विवाह आदि लौकिक व्यवहारमें तो जातिकी प्रधानता है, पर परमात्मप्राप्तिमें भाव और विवेककी प्रधानता है, जाति या वर्णकी नहीं। जैसे सब-के-सब बालक माँकी गोदमें जानेके समान अधिकारी हैं, ऐसे ही भगवान्‌का अंश होनेसे सब-के-सब जीव भगवत्प्राप्तिके समान अधिकारी हैं। सब-के-सब मनुष्य परमात्मतत्त्वको, मुक्तिको, तत्त्वज्ञानको, भगवत्प्रेमको, भगवद्दर्शनको प्राप्त करनेमें स्वतन्त्र, समर्थ, योग्य और अधिकारी हैं। विदुर, निषादराज गुह, कबीर, रैदास, सदन कसाई आदि अनेक निम्न जातिके मनुष्य भगवान्‌की भक्तिके कारण ही श्रेष्ठ बने, जाति या वर्णके कारण नहीं। अतः चाहे ब्राह्मणका शरीर हो, चाहे शूद्रका शरीर हो, लोक-व्यवहारमें तो उनमें भेद रहेगा, पर भगवत्प्राप्तिमें कोई भेद नहीं रहेगा। कारण कि भगवत्प्राप्ति शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर होती है। जिससे सम्बन्ध-विच्छेद करना हो, वह चाहे बढ़िया हो या घटिया, उससे क्या मतलब?

गुणोंके तारतम्यसे जिस वर्णमें जन्म होता है, उन गुणोंके अनुसार ही उस वर्णके कर्म सहज-स्वाभाविक होते हैं; जैसे—ब्राह्मणके लिये शम, दम आदि; क्षत्रियके लिये शौर्य, तेज आदि; वैश्यके लिये खेती, गोरक्षा आदि और शूद्रके लिये सेवा—ये कर्म स्वतः-स्वाभाविक होते हैं। इन कर्मोंको करनेमें उन्हें परिश्रम नहीं होता। इन कर्मोंमें उनकी स्वाभाविक रुचि होती है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥

अपने-अपने कर्ममें प्रीतिपूर्वक लगा हुआ मनुष्य सम्यक् सिद्धि (परमात्मा)-को प्राप्त कर लेता है। अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार सिद्धिको प्राप्त होता है, उस प्रकारको तू मुझसे सुन।

व्याख्या— अपने वर्णके सिवाय जिसने जो-जो कर्म स्वीकार किये हैं, वे सब भी 'स्वे स्वे कर्मणि' के अन्तर्गत लेने चाहिये। जैसे, मनुष्य अपनेको वकील, अध्यापक, चिकित्सक, नौकर आदि मानता है तो उसके कर्तव्यका प्रेमपूर्वक, आदरपूर्वक निःस्वार्थभावसे भलीभाँति पालन करना भी उसके लिये 'स्वकर्म' है।

मनुष्य स्वार्थबुद्धि, पक्षपात, कामना आदिको लेकर कर्म करता है तो वह 'आसक्ति' होती है। वह प्रेमपूर्वक, निष्कामभावसे और दूसरोंके हितके लिये कर्म करता है तो वह 'अभिरति' होती है। भगवान्‌ने कर्मोंमें आसक्तिका निषेध किया है—'न कर्मस्वनुषज्जते' (गीता ६। ४)। मनुष्य जाति आदिको लेकर न अपनेको ऊँचा समझे, न नीचा समझे, प्रत्युत घड़ीके पुर्जेकी तरह अपनी जगह ठीक कर्तव्यका पालन करे और दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार न करे तथा अपना अभिमान भी न करे, तब 'अभिरति' होगी।

वास्तवमें 'कर्म' की प्रधानता नहीं है, प्रत्युत 'भाव' की प्रधानता है। कर्ताका भाव शुद्ध होगा तो वह कल्याण करनेवाला हो जायगा, चाहे कर्ता किसी वर्णका हो। 'कर्म' में वर्णकी मुख्यता है और भावमें दैवी अथवा आसुरी सम्पत्तिकी मुख्यता है। अतः दैवी अथवा आसुरी सम्पत्ति किसी वर्णको लेकर नहीं होती, प्रत्युत सबमें हो सकती है। दैवी-सम्पत्ति मोक्ष देनेवाली और आसुरी-सम्पत्ति बाँधनेवाली है। इसलिये यदि ब्राह्मणमें भी अपनी जाति आदिको लेकर अभिमान हो जाय तो वह आसुरी-सम्पत्तिवाला हो जायगा अर्थात् उसका पतन हो जायगा।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥

जिस परमात्मासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति (उत्पत्ति) होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मके द्वारा पूजन करके मनुष्यमात्र सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— यह संसार भगवान्‌का प्रथम अवतार है— 'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य' (श्रीमद्भा० २। ६। ४१)। अतः यह संसार भगवान्‌की ही मूर्त्ति है। जैसे मूर्त्तिमें हम भगवान्‌का पूजन करते हैं, पुष्प चढ़ाते हैं, चन्दन लगाते हैं तो हमारा भाव मूर्त्तिमें न होकर भगवान्‌में होता है अर्थात् हम मूर्त्तिकी पूजा न करके भगवान्‌की पूजा करते हैं, ऐसे ही हमें अपनी प्रत्येक क्रियासे संसाररूपमें भगवान्‌का पूजन करना है। श्रोता सुनकर वक्ताका पूजन करे, वक्ता सुनाकर श्रोताका पूजन करे—इस प्रकार सभी अपने-अपने कर्मोंके द्वारा एक-दूसरेका पूजन करें। दृष्टि भगवान्‌की तरफ ही हो, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णकी तरफ नहीं। जैसे—ऋषि-मुनि भगवान् श्रीरामको प्रणाम करते हैं तो भगवान्‌के भावसे प्रणाम करते हैं, क्षत्रियके भावसे नहीं।

पूजनमें मुख्य भाव यह रहना चाहिये कि सब कुछ भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये ही है। जैसे गंगाजलसे गंगाका पूजन और दीपकसे सूर्यका पूजन करते हैं, ऐसे ही भगवान्‌की वस्तुओंसे भगवान्‌का पूजन करना है। इस प्रकार भगवान्‌का पूजन करनेसे संसार लुप्त हो जायगा और एकमात्र भगवान् रह जायँगे अर्थात् 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव हो जायगा।

दसवें अध्यायमें भगवान्‌ने कहा था कि सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर स्थित आत्मा मैं ही हूँ—'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' (गीता,१०। २०)। अतः भगवद्भावसे हम किसी भी प्राणीकी सेवा, आदर-सत्कार करेंगे तो वह भगवान्‌की ही सेवा होगी। यदि किसी प्राणीका अनादर-तिरस्कार करेंगे तो वह भगवान्‌का ही अनादर-तिरस्कार होगा।

साधक यदि जगत्‌को जगत्-रूपसे देखे तो उसकी 'सेवा' करे और भगवद्रूपसे देखे तो उसका 'पूजन' करे। अपने लिये कुछ न करे। मात्र कर्म अपने लिये करना बन्धन है, संसारके लिये करना सेवा है और भगवान्‌के लिये करना पूजन है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

अच्छी तरह अनुष्ठान किये हुए परधर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। कारण कि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या—**स्वधर्मरूप कर्मको करनेसे पाप बन तो सकता है, पर लग नहीं सकता; क्योंकि पाप लगनेमें मुख्य कारण भाव है, क्रिया नहीं। पाप क्रियासे नहीं लगता, प्रत्युत भावसे अर्थात् स्वार्थ और अभिमान आनेसे लगता है।**

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

हे कुन्तीनन्दन! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मका त्याग नहीं करना चाहिए; क्योंकि सम्पूर्ण कर्म धुएँसे अग्निकी तरह (किसी-न-किसी) दोषसे युक्त हैं।

व्याख्या—निषिद्ध कर्ममें आसक्ति होनेसे अथवा निषिद्ध रीतिसे भोग भोगनेके कारण ही विहित कर्म कठिन प्रतीत होता है। वास्तवमें विहित कर्म सहज-स्वाभाविक है। इसमें परिश्रम नहीं है।

इकतालीसवें श्लोकसे यहाँतक 'स्वकर्म', 'स्वधर्म' और 'सहज कर्म' शब्दोंका प्रयोग हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् स्वकर्म और सहज कर्मको ही 'स्वधर्म' मानते हैं (गीता २। ३१)।

विहित कर्म करनेमें कुछ-न-कुछ दोष होता तो है, पर कामना, सुखबुद्धि, भोगबुद्धि न रहनेसे दोष लगता नहीं। तात्पर्य है कि दोष लगना या न लगना कर्ताकी नीयतपर निर्भर है; जैसे—डॉक्टरकी नीयत ठीक हो, पैसोंका उद्देश्य न होकर सेवाका उद्देश्य हो तो आपरेशनमें रोगीका अंग काटनेपर भी उसे दोष नहीं लगता, प्रत्युत निःस्वार्थभाव और रोगीके हितका भाव होनेसे पुण्य होता है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति॥ ४९॥

जिसकी बुद्धि सब जगह आसक्ति-रहित है, जिसने शरीरको वशमें कर रखा है, जो स्पृहा-रहित है, वह मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा सर्वश्रेष्ठ नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—असक्तबुद्धि, जितात्मा और विगतस्पृह होनेपर कर्मयोग सिद्ध हो जाता है (गीता २। ७१)। कर्मयोग सिद्ध होनेपर साधक सांख्ययोगका अधिकारी हो जाता है । सांख्ययोगसे वह नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त करता है। नैष्कर्म्यसिद्धिका अर्थ है—कर्म सर्वथा अकर्म हो जायँ, कर्म होते हुए भी लिप्तता न हो। कर्मोंको न करना नैष्कर्म्य नहीं है (गीता ३। ४), प्रत्युत कर्म करना तो साधकके लिये आवश्यक है (गीता ६। ३)।

कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है। अतः कर्मयोग तथा ज्ञानयोगसे तो 'नैष्कर्म्यसिद्धि' होती है, पर भक्तियोगसे 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' होती है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ ५०॥

हे कौन्तेय! सिद्धि (अन्त:करणकी शुद्धि)-को प्राप्त हुआ साधक ब्रह्मको, जो कि ज्ञानकी परा निष्ठा है, जिस प्रकारसे प्राप्त होता है, उस प्रकारको तुम मुझसे संक्षेपमें ही समझो।

व्याख्या—यहाँ 'सिद्धिम' पदका अर्थ है—साधनरूप कर्मयोगसे होनेवाली अन्त:करणकी पूर्ण शुद्धि, जिसकी प्राप्तिके बाद कर्मयोगी ज्ञानयोगमें अथवा भक्तियोगमें जा सकता है। कर्मयोगीके भीतर यदि ज्ञानके संस्कार हैं तो वह ज्ञानमें चला जायगा, और यदि भक्तिके संस्कार हैं तो वह भक्तिमें चला जायगा।

यदि किसी एक साधनका आग्रह न हो तो कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों साधनरूपसे भी हैं और साध्यरूपसे भी। साधनरूपसे तो तीनों अलग-अलग हैं, पर साध्यरूपसे तीनों एक ही हैं। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने कहीं तो साधन-भक्तिसे साध्य-ज्ञानकी प्राप्ति बतायी है (गीता १३। १०, १४। २६) और कहीं साधन-ज्ञानसे साध्य-भक्तिकी प्राप्ति बतायी है (गीता १२। ४, १८। ५४)।

भगवान्‌ने पहले 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:' (गीता १८। ४६)—इन पदोंसे कर्मयोगके द्वारा भक्तिकी सिद्धि बतायी और यहाँ 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म' पदोंसे कर्मयोगके द्वारा ज्ञानयोगकी सिद्धि बताते हैं।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ ५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ ५२॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५३॥

जो विशुद्ध (सात्त्विकी) बुद्धिसे युक्त, वैराग्यके आश्रित, एकान्तका सेवन करनेवाला और नियमित भोजन करनेवाला साधक धैर्यपूर्वक इन्द्रियोंका नियमन करके, शरीर-वाणी-मनको वशमें करके, शब्दादि विषयोंका त्याग करके और राग-द्वेषको छोड़कर निरन्तर ध्यानयोगके परायण हो जाता है, वह अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहसे रहित होकर एवं ममतारहित तथा शान्त होकर ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है।

व्याख्या— **ज्ञानयोगका साधक जबतक असत् पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध मानता रहता है, तबतक परमात्मप्राप्तिकी सामर्थ्य नहीं आती। जब असत् पदार्थोंके सम्बन्धकी मान्यता मिट जाती है, तब उसमें परमात्मप्राप्तिकी सामर्थ्य आ जाती है अर्थात् उसे नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।**

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४॥

वह ब्रह्मरूप बना हुआ प्रसन्न मनवाला साधक न तो (किसीके लिये) शोक करता है और न (किसीकी) इच्छा ही करता है। ऐसा सम्पूर्ण प्राणियोंमें समभाववाला साधक मेरी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— ज्ञानयोगके जिस साधकमें भक्तिके संस्कार होते हैं, जो अपने मतका आग्रह नहीं रखता, मुक्तिको ही सर्वोपरि नहीं मानता और भक्तिका खण्डन नहीं करता, उसे मुक्त होनेपर भी सन्तोष नहीं होता। इसलिये मुक्ति प्राप्त होनेके बाद उसे पराभक्ति (परमप्रेम)-की प्राप्ति हो जाती है।

जो अपनी दृष्टि (मान्यता)-से ब्रह्मरूप बना हुआ है, ब्रह्म हुआ नहीं है, उसे यहाँ 'ब्रह्मभूत' कहा गया है। ब्रह्मभूत होनेके बाद जीवका ब्रह्मके साथ तात्त्विक सम्बन्ध (साधर्म्य) हो जाता है—'मम साधर्म्यमागताः' (गीता १४। २)। तात्त्विक सम्बन्ध होना ही मुक्ति है। फिर सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मामें अपने-आपको विलीन (समर्पित) कर देनेसे परमात्माके साथ आत्मीय सम्बन्ध हो जाता है—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गीता ७। १८); 'द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि' (गीता ४। ३५)। आत्मीय सम्बन्ध होना ही पराभक्तिकी प्राप्ति है।

ज्ञानमार्गमें जड़ताका त्याग मुख्य है। जड़ताका त्याग विवेक-साध्य है। विवेकपूर्वक जड़ताका त्याग करनेपर त्याज्य वस्तुका संस्कार शेष रह सकता है, जिससे दार्शनिक मतभेद पैदा होते हैं। परन्तु परमप्रेमकी प्राप्ति होनेपर त्याज्य वस्तुका संस्कार नहीं रहता; क्योंकि भक्त जड़ताका त्याग नहीं करता, प्रत्युत उसे भी भगवान्‌का स्वरूप ही मानता है—'सदसच्चाहम्' (गीता ९। १९)। परम प्रेमकी प्राप्ति विवेक-साध्य नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वास-साध्य है। श्रद्धा-विश्वासमें केवल भगवत्कृपापर ही भरोसा है। इसलिये जिसके भीतर भक्तिके संस्कार होते हैं, उसे भगवत्कृपा मुक्तिमें सन्तुष्ट नहीं होने देती, प्रत्युत मुक्तिके रस (अखण्डरस)-को फीका करके परम प्रेमका रस (अनन्तरस) प्रदान कर देती है।

संसारके सम्बन्धसे अशान्ति होती है, इसलिये कर्मयोगमें संसारसे सम्बन्ध छूटनेपर 'शान्त आनन्द' मिलता है। ज्ञानयोगमें निजस्वरूपमें स्थिति होनेसे 'अखण्ड आनन्द' मिलता है। भक्तियोगमें भगवान्‌से अभिन्नता होनेपर 'अनन्त आनन्द' मिलता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ ५५॥

उस पराभक्तिसे मुझे, मैं जितना हूँ और जो हूँ—इसको तत्त्वसे जान लेता है, फिर मुझे तत्त्वसे जानकर तत्काल मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

व्याख्या— **मैं जितना हूँ और जो हूँ—यह बात सगुण ईश्वरकी ही है; क्योंकि** 'यावान्-तावान्' **सगुणमें ही हो सकता है, निर्गुणमें कदापि नहीं।** 'यावान्यश्चास्मि' **का वर्णन सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें** 'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः' **पदोंसे कर चुके हैं। इससे सगुणकी विशेषता तथा मुख्यता सिद्ध होती है।**

यहाँ 'भक्त्या मामभिजानाति' **पदोंमें भगवान्‌को दृढ़तापूर्वक मानना (सन्देहरहित विश्वास) ही उन्हें जानना है।**

ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको जब (ज्ञानोत्तरकालमें) भक्ति प्राप्त होती है, तब उसमें तत्त्वसे जानना (ज्ञात्वा) **और प्रविष्ट होना** (विशते) **—ये दो ही होते हैं, दर्शन नहीं होते। उनमें कोई कमी तो नहीं रहती, पर दर्शनकी इच्छा उनमें नहीं होती। परन्तु आरम्भसे ही भक्तिमार्गसे चलनेवालेको तत्त्वसे जानने और प्रविष्ट होनेके सिवाय भगवान्‌के दर्शन भी होते हैं (गीता ११। ५४)। इसलिये ज्ञानमार्गी सन्तोंमें भगवत्प्रेम (भक्ति)-की बात तो आती है, पर दर्शनकी बात नहीं आती।**

जैसे विभिन्न मार्गोंसे आनेवाले व्यक्ति द्वारमें प्रविष्ट होनेपर एक साथ मिल जाते हैं, ऐसे ही विभिन्न योग-मार्गोंपर चलनेवाले साधक भगवान्‌में प्रविष्ट होनेपर (विशते) **एक हो जाते हैं अर्थात् अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध भी न रहनेसे उनमें कोई मतभेद नहीं रहता।**

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥

मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— ज्ञानयोगीके लिये तो भगवान्‌ने बताया कि वह सब विषयोंका त्याग करके संयमपूर्वक निरन्तर ध्यानके परायण रहे, तब वह अहंता, ममता, काम, क्रोध आदिका त्याग करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है (गीता १८। ५१—५३)। परन्तु भक्तके लिये भगवान् यहाँ बताते हैं कि वह सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको सदा करते हुए भी मेरी कृपासे परमपदको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि उसने मेरा आश्रय लिया है। तात्पर्य है कि भक्तको अपना कल्याण खुद नहीं करना पड़ता। कारण कि वह अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदिका किंचिन्मात्र भी आश्रय न रखकर केवल भगवान्‌का ही आश्रय रखता है। फिर भगवत्कृपा ही उसका कल्याण कर देती है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥

चित्तसे सम्पूर्ण कर्म मुझमें अर्पण करके मेरे परायण होकर तथा समताका आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो जा।

व्याख्या— पूर्वश्लोकमें शाश्वत पदकी प्राप्ति बताकर अब उसकी विधि बताते हैं कि वह कैसे प्राप्त होगा? साधकके लिये दो ही मुख्य कार्य हैं—संसारके सम्बन्धका त्याग करना और भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ना। पूर्वश्लोकमें आये 'मद्व्यपाश्रयः' पदमें भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेकी मुख्यता है और प्रस्तुत श्लोकमें आये 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य' पदमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदकी मुख्यता है। एकमात्र भगवान्‌का चिन्तन करनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वतः समता आ जाती है। भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन तभी होगा, जब 'मैं भगवान्‌का ही हूँ'— इस प्रकार अहंता भगवान्‌में हो जायगी। अहंता भगवान्‌में लग जानेपर चित्त स्वतः-स्वाभाविक भगवान्‌में लग जाता है।

भगवान्‌के साथ जीवमात्रका स्वतःसिद्ध नित्य सम्बन्ध है। केवल संसारके साथ सम्बन्ध माननेसे ही इस नित्य सम्बन्धकी विस्मृति हुई है। इस विस्मृतिको मिटानेके लिये भगवान् कहते हैं कि निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो जा।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ ५८॥

मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा और यदि तू अहंकारके कारण मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा।

व्याख्या— **साधकका काम केवल संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख होना है। सम्मुख हो जानेपर जो कुछ कमी रह जायगी, वह भगवान्‌की कृपासे दूर हो जायगी। तात्पर्य है कि उस कमीको दूर करनेकी साधकपर कोई जिम्मेवारी नहीं रहती, प्रत्युत उसे दूर करनेकी पूरी जिम्मेवारी भगवान्‌की हो जाती है। भगवान् विशेष कृपा करके उसके साधनकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर देते हैं और अपनी प्राप्ति भी करा देते हैं।**

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥

अहंकारका आश्रय लेकर तू जो ऐसा मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तेरा यह निश्चय मिथ्या (झूठा) है; क्योंकि तेरी क्षात्र-प्रकृति तुझे युद्धमें लगा देगी।

व्याख्या— भगवान्‌ने कहा कि मेरी कृपासे तू मेरी प्राप्ति भी कर लेगा और सभी विघ्नोंसे भी छूट जायगा। मैं तुझे अपनी प्राप्ति भी करा दूँगा और तेरे विघ्नोंको भी दूर कर दूँगा (गीता १८। ५६, ५८)। परन्तु इतना कहनेपर भी अर्जुन कुछ बोले नहीं तो भगवान् कहते हैं कि यदि तू भूलसे मेरी बात न सुने तो कोई दोष नहीं, पर तू अहंकारसे मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा। भगवान्‌का भाव है कि जैसे भक्तका सब काम (साधन और सिद्धि) मैं कर देता हूँ, ऐसे ही भक्तको भी चाहिये कि वह सब प्रकारसे मेरा ही आश्रय ले। यदि मेरा आश्रय न लेकर वह अहंकारका आश्रय लेगा तो उसका पतन हो जायगा। कर्तव्य-कर्म (युद्ध)-में एक तो मैं लगाता हूँ और एक प्रकृति लगाती है। यदि तू मेरी बात नहीं मानेगा तो तेरी क्षात्र-प्रकृति तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगी, तू युद्ध किये बिना रह नहीं सकेगा। फिर सब जिम्मेवारी तेरी होगी, मेरी नहीं।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥

हे कुन्तीनन्दन! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बँधा हुआ तू मोहके कारण जिस युद्धको नहीं करना चाहता, उसको भी तू (क्षात्र-प्रकृतिके) परवश होकर करेगा।

व्याख्या—भगवान् कहते हैं कि चाहे कर्तव्यमात्र समझकर युद्ध कर, चाहे मेरी आज्ञा मानकर युद्ध कर, युद्ध तो तुझे करना ही पड़ेगा। मेरी आज्ञा न माननेसे तेरा अहंकार रहेगा, जिससे विहित कर्म भी बाँधनेवाला हो जायगा। परन्तु मेरी आज्ञा मानकर विहित कर्म करनेसे वह कर्म तेरे लिये कल्याणकारी हो जायगा।

जो प्रकृतिके परवश नहीं होता, जिसकी प्रकृति (स्वभाव) महान् शुद्ध होती है, ऐसा ज्ञानी महापुरुष भी जब अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है (गीता ३। ३३), फिर प्रकृतिके परवश हुआ तथा अशुद्ध प्रकृतिवाला मनुष्य प्रकृतिके विरुद्ध कर्म कैसे कर सकता है?

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

हे अर्जुन! ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें रहता है और अपनी मायासे शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको (उनके स्वभावके अनुसार) भ्रमण कराता रहता है।

व्याख्या— जो ईश्वर सबका शासक, नियामक, पालक एवं संचालक है, वह अपनी शक्तिसे उन प्राणियोंको घुमाता है, जिन्होंने शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान रखा है। जैसे कोई रेलगाड़ीपर चढ़ जाता है तो उसे परवशतासे रेलगाड़ीके अनुसार ही जाना पड़ता है, ऐसे ही मनुष्य जबतक शरीररूपी यन्त्रके साथ 'मैं' और 'मेरे'-पनका सम्बन्ध मानता है, तबतक ईश्वर उसे उसके स्वभावके अनुसार जन्म-मरणरूप संसारचक्रमें घुमाता रहता है। शरीरके साथ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध न रहनेपर ईश्वरकी माया उसे संचालित नहीं करती।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! तू सर्वभावसे उस ईश्वरकी ही शरणमें चला जा। उसकी कृपासे तू परम शान्ति (संसारसे सर्वथा उपरति)-को और अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या— जीव ईश्वरका ही अंश है—*'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'* (मानस, उत्तर० ११७। १), 'ममैवांशो जीवलोके' (गीता १५। ७)। इसलिये भगवान् ईश्वरकी ही शरणमें जानेकी आज्ञा देते हैं। ईश्वरकी शरण लेनेसे अहंकार नहीं रहता। जबतक जीव ईश्वरके वश (शरण)-में नहीं होता, तबतक वह प्रकृतिके वशमें रहता है।

सबके हृदयमें अन्तर्यामी-रूपसे स्थित ईश्वर ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं, और भगवान् श्रीकृष्ण ही सबके हृदयमें अन्तर्यामी-रूपसे स्थित ईश्वर हैं (गीता ४। ६; ५। २९; ८। ४; ९। २४; १५। १५)।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

यह गुह्यसे भी गुह्यतर (शरणागतिरूप) ज्ञान मैंने तुझे कह दिया। अब तू इसपर अच्छी तरहसे विचार करके जैसा चाहता है, वैसा कर।

व्याख्या—**तू जैसा चाहता है, वैसा कर**—इस कथनमें भगवान्‌की विशेष आत्मीयता, कृपालुता और हितैषिता भरी हुई है। ये वचन भगवान् अर्जुनका त्याग करनेके लिये नहीं कहते हैं, प्रत्युत अपनी तरफ विशेषतासे खींचनेके लिये कहते हैं; जैसे—गेंद फेंकते हैं विशेषतासे पीछे लेनेके लिये, न कि त्याग करनेके लिये। तात्पर्य है कि पूर्वश्लोकमें अन्तर्यामी निराकार ईश्वरकी शरणागतिकी बात कहकर अब भगवान् अर्जुनको अपनी तरफ अर्थात् सगुण-साकारकी तरफ खींचना चाहते हैं, जिससे अर्जुन समग्रकी प्राप्तिसे वंचित न रह जाय। निराकारमें साकार नहीं आता, पर साकारमें निराकार भी आ जाता है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥

सबसे अत्यन्त गोपनीय सर्वोत्कृष्ट वचन तू फिर मुझसे सुन। तू मेरा अत्यन्त प्रिय मित्र है, इसलिये यह (विशेष) हितकी बात मैं तुझे कहूँगा।

व्याख्या— कर्मयोग 'गुह्य' है (गीता ४।३), अन्तर्यामी निराकार परमात्माकी शरणागति 'गुह्यतर' है (गीता १८।६३), परमात्माके प्रभावकी बात 'गुह्यतम' है (गीता ९।१, १५।२०) और साकार परमात्माकी शरणागति 'सर्वगुह्यतम' है। यह 'सर्वगुह्यतमम्' पद गीतामें एक ही बार यहाँ आया है।

निराकारकी शरणमें जानेसे मुक्ति हो जाती है, पर साकारकी शरणमें जानेसे मुक्तिके साथ-साथ प्रेमकी भी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने भक्तिके प्रसंगमें ही 'परम वचन' कहे हैं (गीता १०।१)।

अर्जुनने भगवान्‌से कहा था कि मैं आपका शिष्य हूँ—'शिष्यस्तेऽहम्' (२।७), पर भगवान् यहाँ कहते हैं कि तू मेरा प्रिय मित्र है—'इष्टोऽसि'। तात्पर्य है कि भगवान् अपनेको गुरु न मानकर मित्र ही मानते हैं। भगवान् सबको अपना मित्र बनाते हैं, अपने समान बनाते हैं, किसीको अपना शिष्य नहीं बनाते। यह सिद्धान्त है कि जो खुद छोटा होता है, वही दूसरेको छोटा बनाता है। भगवान् सबसे बड़े हैं, इसलिये वे कभी किसीको छोटा नहीं बनाते।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥

तू मेरा भक्त हो जा, मुझमें मनवाला हो जा, मेरा पूजन करनेवाला हो जा और मुझे नमस्कार कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त हो जायगा—यह मैं तेरे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।

व्याख्या— भगवान्‌का भक्त होना, उनमें मन लगाना, उनका पूजन करना और उन्हें नमस्कार करना—इन चारोंमें एक भी साधन ठीक तरहसे होनेपर शेष तीनों साधन स्वतः उसमें आ जाते हैं। भगवान्‌का भक्त होनेका तात्पर्य है—'मैं भगवान्‌का ही हूँ' इस प्रकार अपनी अहंताको बदल देना। भगवान्‌में मन लगानेका तात्पर्य है—भगवान्‌को अपना मानना। भगवान्‌का पूजन करनेका तात्पर्य है—सब कार्य पूजाभावसे करना। भगवान्‌को नमस्कार करनेका तात्पर्य है—अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित करना।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।

व्याख्या—यहाँ 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' पदका अर्थ 'सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूपसे त्याग' नहीं है, प्रत्युत 'सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रयका त्याग' है। जैसे, पहले अध्यायमें आया है—'त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च' (१। ३३) तो इसका अर्थ यह नहीं ले सकते कि 'वे प्राणोंका त्याग करके युद्धमें खड़े हैं'। इसका अर्थ होगा—वे प्राणोंकी आशाका त्याग करके युद्धमें खड़े हैं; क्योंकि प्राणोंका त्याग करके कोई युद्धमें कैसे खड़ा होगा? इसी प्रकार 'अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविता' (१। ९)—इसका अर्थ यह नहीं ले सकते कि बहुत-से शूरवीर अपने जीवनका त्याग करके खड़े हैं। इसका अर्थ होगा—वे शूरवीर अपने जीवनकी आशाका त्याग करके खड़े हैं अर्थात् उनको अपने जीवनका मोह नहीं है। अतः प्रस्तुत श्लोकमें भी 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' पदका अर्थ 'सब धर्मोंके आश्रयका त्याग' लेना चाहिये। तात्पर्य है कि भक्तकी दृष्टिमें भगवान्‌की शरणागतिका जितना महत्त्व है, उतना धर्मों (कर्तव्य-कर्मों)-का नहीं है। धर्म अपने वर्ण-आश्रम आदिको लेकर होता है; अतः उसमें शरीरकी मुख्यता रहती है। परन्तु शरणागति स्वयंको लेकर होती है; अतः उसमें भगवान्‌की मुख्यता रहती है।

'मामेकं शरणं व्रज' का तात्पर्य है कि बाहरसे सबके साथ प्रेम, आदर-सत्कारका व्यवहार करते हुए भी भीतरसे केवल भगवान्‌का ही आश्रय रहे।

अर्जुन पापोंसे छूटना चाहते थे, इसलिये भगवान्‌ने भी पापोंसे मुक्त करनेकी बात कही है। वास्तवमें केवल पापोंसे मुक्ति ही शरणागतिका फल नहीं है। पापोंसे मुक्ति मोक्षका फल है। शरणागतिसे मनुष्य मोक्षके साथ-साथ भगवान्‌के परमप्रेम (अनन्तरस)-को भी प्राप्त कर लेता है! इसलिये भक्तको पापोंसे अथवा दुःखोंसे मुक्ति पानेकी इच्छा न रखकर केवल भगवान्‌की शरणमें चले जाना चाहिये। कुछ भी चाहनेसे कुछ (सीमित) ही मिलता है, पर कुछ भी न चाहनेसे सब कुछ (असीम) मिलता है। इतना ही नहीं, भगवान् भी शरणागत भक्तके वशमें हो जाते हैं, उसके ऋणी हो जाते हैं।

भगवान्‌का आश्रय लेना और अपने लिये कुछ न करना ही गीताका तात्पर्य है। इसलिये साधकके लिये सबसे मूल्यवान् वस्तुएँ दो ही हैं—भगवदाश्रय और विश्राम। शरीरादि पदार्थोंका आश्रय 'पराश्रय' है और क्रियाका आश्रय 'परिश्रम' है। परमात्मप्राप्ति पदार्थ और क्रियाके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत पदार्थ और क्रियाके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। जब साधक पराश्रयका त्याग करके 'भगवदाश्रय'को अपनाता है और परिश्रमका त्याग करके 'विश्राम' को अपनाता है, तब उसका मानव-जीवन सफल हो जाता है।

शरीरके लिये विश्राम (कुछ न करना) भोग है। इसलिये निद्राके सुखको तामस कहा गया है (गीता १८। ३९)। परन्तु परमात्माके लिये विश्राम करना साधन है; क्योंकि परमात्मा परम विश्रामस्वरूप हैं। नित्य परमात्मसत्तामें सदा-सर्वदा निरन्तर स्थित रहना ही परमात्माके लिये विश्राम करना है। परमात्माके लिये होनेवाला विश्राम तामस नहीं होता, प्रत्युत सात्त्विक होकर गुणातीत हो जाता है।

पराश्रय और परिश्रम तो संसारके लिये हैं, पर भगवदाश्रय और विश्राम अपने लिये हैं। यदि किसी साधकका भगवान्‌पर विश्वास न हो, प्रत्युत अपनेपर विश्वास हो तो वह 'स्वाश्रय' को अपना सकता है। यदि साधकका न तो भगवान्‌पर विश्वास हो, न अपनेपर तो वह 'धर्म (कर्तव्य-कर्म)-का आश्रय' अपना सकता है।

मैं भगवान्‌का ही हूँ, भगवान् ही मेरे हैं—इसको स्वीकार कर लेना 'भगवान्' का आश्रय है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये—इसको स्वीकार कर लेना 'स्व' का आश्रय है। पदार्थ और क्रिया केवल दूसरोंकी सेवाके लिये है—इसको स्वीकार कर लेना 'धर्म' का आश्रय है। भगवान्‌का आश्रय 'भक्तियोग' है। स्वका आश्रय 'ज्ञानयोग' है। धर्मका आश्रय 'कर्मयोग' है। यद्यपि तीनों ही योगमार्गोसे पदार्थ और क्रियारूप प्रकृतिका आश्रय (बन्धन) और सत्तामात्रमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थिति (मोक्ष)-का अनुभव हो जाता है, तथापि इन तीनोंमें भक्तियोग (भगवान्‌का आश्रय) सर्वश्रेष्ठ है। कारण कि मूलमें हम भगवान्‌के ही अंश हैं। भगवदाश्रयसे मुक्तिके साथ-साथ भक्ति (परम प्रेम)-की भी प्राप्ति हो जाती है, जो मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है।

यह भगवदाश्रय (शरणागति) गीताका सार है, जिसे भगवान्‌ने विशेष कृपा करके कहा है। भगवदाश्रयमें ही गीताके उपदेशकी पूर्णता होती है। इसके बिना गीता अधूरी रहती है। इसलिये अर्जुनके द्वारा 'करिष्ये वचनं तव' कहकर भगवान्‌का पूर्ण आश्रय स्वीकार करनेपर फिर भगवान् नहीं बोले (१८। ७३)।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ ६७॥

यह सर्वगुह्यतम वचन तुझे अतपस्वीको नहीं कहना चाहिये; अभक्तको नहीं कहना चाहिये तथा जो सुनना नहीं चाहता, उसको नहीं कहना चाहिये और जो मुझमें दोषदृष्टि करता है, उसको भी नहीं कहना चाहिये।

व्याख्या— **जो सहिष्णु (सहनशील) नहीं है, वह 'अतपस्वी' है। जो भक्तिका विरोध अथवा खण्डन करनेवाला है, वह 'अभक्त' है। जो अहंकारके कारण सुनना नहीं चाहता, वह 'अशुश्रूषवे' है। जो भगवान्में दोषदृष्टि रखता है, वह 'अभ्यसूयति' है।**

जिसकी भगवान्पर तथा उनके वचनोंपर श्रद्धा नहीं है, जो भगवान्को मनुष्योंकी तरह स्वार्थी तथा अभिमानी समझता है, वह भगवान्पर दोषारोपण करके पतनकी तरफ न चला जाय, इसलिये उसे पूर्वश्लोकमें कहे गये गोपनीय वचनको कहनेका निषेध किया गया है।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

मुझमें पराभक्ति करके जो इस परम गोपनीय संवाद (गीताग्रन्थ)-को मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझे ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

व्याख्या—जो केवल भगवान्‌की भक्तिका उद्देश्य रखकर निःस्वार्थभावसे इस परम गोपनीय गीताको भक्तोंमें सुनाता है, वह भगवान्‌को प्राप्त होता है। जो भोजन-शयन, शौच-स्नान आदि शारीरिक क्रियाओंको भी भगवान्‌के अर्पित कर देता है, वह भी भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है। (गीता ९। २७-२८); फिर जो केवल भगवद्भक्तिका उद्देश्य रखकर भगवद्वाणी (गीता)-का प्रचार करता है, वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाय, इसमें कहना ही क्या है।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

उसके समान मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है और इस भूमण्डलपर उसके समान मेरा दूसरा कोई प्रियतर होगा भी नहीं।

व्याख्या— जिसका एकमात्र भगवत्प्राप्तिका, भगवत्प्रेमका ही उद्देश्य है, जो गीताके अनुसार ही अपना जीवन बनाना चाहता है, ऐसा साधक ही गीताके प्रचारका अधिकारी होता है। ऐसा साधक ही भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय कार्य (गीता-प्रचार) करनेवाला है। जो लोगोंको गीतामें लगाता है, उसके समान पृथ्वी-मण्डलपर भगवान्‌का दूसरा कोई प्रियतर नहीं होगा। कारण कि गीताकी शिक्षासे मनुष्यमात्र प्रत्येक परिस्थितिमें सुगमतासे अपना कल्याण कर सकता है। गीताने युद्ध-जैसी परिस्थितिमें भी कल्याण होनेकी बात कही है (गीता २। ३८, ९। २७, १८। ४६ आदि)। जब युद्ध-जैसी घोर परिस्थितिमें भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है, फिर अन्य परिस्थितिमें कैसे नहीं होगा? इसलिये भगवान् गीताके प्रचारकी विशेष महिमा गाते हैं।

जो मनुष्य भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय हो जाता है, उसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—तीनों योग प्राप्त हो जाते हैं।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७०॥

जो मनुष्य हम दोनोंके इस धर्ममय संवादका अध्ययन करेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या— भगवान् ज्ञानयज्ञको द्रव्ययज्ञसे भी श्रेष्ठ मानते हैं (गीता ४। ३३)। जो गीताका अध्ययन करता है, उसके द्वारा भगवान् ज्ञानयज्ञसे पूजित होते हैं। जब गीताके अध्ययनमात्रका इतना माहात्म्य है, फिर उसके अनुसार आचरण करनेका कितना माहात्म्य होगा।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ ७१॥

श्रद्धावान् और दोषदृष्टिसे रहित जो मनुष्य (इस गीताग्रन्थको) सुन भी लेगा, वह भी शरीर छूटनेपर पुण्यकारियोंके शुभ लोकोंको प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या— गीताकी बातोंको जैसा सुन ले, उसे प्रत्यक्षसे भी बढ़कर पूज्यभावसहित वैसा-का-वैसा माननेवालेका नाम 'श्रद्धावान्' है, और उन बातोंमें कहीं भी, किसी भी विषयमें किंचिन्मात्र भी कमी न देखनेवालेका नाम 'अनसूयः' है। ऐसा श्रद्धावान् तथा दोषदृष्टिसे रहित मनुष्य गीताको केवल सुन भी ले तो वह भी शरीर छूटनेपर पुण्यकारियोंके शुभ लोकोंको प्राप्त कर लेता है।

श्रद्धा-भक्तिके तारतम्यसे गीताके सुननेमें तारतम्य रहता है, और सुननेके तारतम्यसे श्रोताका स्वर्गादि लोकोंसे लेकर भगवल्लोकतक अधिकार हो जाता है। तात्पर्य है कि श्रोतामें अधिक श्रद्धा-भक्ति होगी तो वह भगवान्‌के परमधामको प्राप्त हो जायगा, और कम श्रद्धा-भक्ति होगी तो वह ब्रह्मलोकतकके लोकोंको प्राप्त हो जायगा।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥ ७२॥

हे पृथानन्दन! क्या तुमने एकाग्रचित्तसे इसको सुना? और हे धनञ्जय! क्या तुम्हारा अज्ञानसे उत्पन्न मोह नष्ट हुआ?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूँ। अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।

व्याख्या— लौकिक स्मृति तो विस्मृतिकी अपेक्षासे कही जाती है, पर अलौकिक तत्त्वकी स्मृति विस्मृतिकी अपेक्षासे नहीं है, प्रत्युत अनुभवरूप है। इस तत्त्वकी निरपेक्ष स्मृति अर्थात् अनुभवको ही यहाँ 'स्मृतिर्लब्धा' कहा गया है।

वास्तवमें तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती, प्रत्युत विमुखता होती है। तात्पर्य है कि पहले ज्ञान था, फिर उसकी विस्मृति हो गयी—इस तरह तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती। यदि ऐसी विस्मृति मानें तो स्मृति होनेके बाद पुनः विस्मृति हो जायगी। इसलिये गीतामें आया है—'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्' (४। ३५) अर्थात् उसे जान लेनेके बाद फिर मोह नहीं होता। अभावरूप असत्को भावरूप मानकर महत्त्व देनेसे तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हट गयी—इसीको 'विस्मृति' कह देते हैं। वृत्तिका हटना अथवा लगना भी साधककी दृष्टिसे है, तत्त्वकी दृष्टिसे नहीं। तत्त्वकी दृष्टिसे वृत्ति हटे अथवा लगे, तत्त्व ज्यों-का-त्यों ही रहता है। अभावरूप असत्को अभावरूप ही मान लें तो भावरूप तत्त्व स्वतः ज्यों-का-त्यों रह जाता है।

जीव अनादिकालसे स्वतः परमात्माका है। उसे केवल संसारके आश्रयका त्याग करना है। अर्जुनको मुख्यरूपसे भक्तियोगकी स्मृति हुई है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है। इसलिये भक्तियोगकी स्मृति ही वास्तविक है। भक्तियोगकी स्मृति है—'वासुदेवः' (गीता ७। १९)। अतः एक वासुदेवके सिवाय कुछ भी नहीं है—इसका अनुभव होना ही 'स्मृतिर्लब्धा' है। यह अनुभव केवल भगवत्कृपासे ही होता है—'त्वत्प्रसादात्'। वचन सीमित होते हैं, पर कृपा असीम होती है।

चिन्तनमें तो कर्तृत्व होता है, पर स्मृतिमें कर्तृत्व नहीं है। कारण कि चिन्तन मनमें होता है। मनसे परे बुद्धि है, बुद्धिसे परे अहम् है और अहम्से परे स्वरूप है। उस स्वरूपमें स्मृति होती है। स्वरूप कर्तृत्वरहित चिन्तन तो हम करते हैं, पर स्मृतिमें केवल दृष्टि उधर जाती है। तत्त्वमें विस्मृति नहीं है, इसलिये दृष्टि उधर जाते ही स्मृति हो जाती है।

'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः'—अर्जुनको पहले क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना ठीक दीखता था। फिर गुरुजनोंके सामने आनेसे युद्ध करना पाप दीखने लगा। परन्तु स्मृति प्राप्त होते ही सब उलझनें मिट गयीं। मैं क्या करूँ? युद्ध करूँ या नहीं करूँ? मेरा कल्याण किसमें है?—यह सन्देह बिलकुल नहीं रहा। अब अर्जुनके लिये कुछ करना शेष नहीं रहा, प्रत्युत केवल भगवान्की आज्ञाका पालन करना ही शेष रहा—'करिष्ये वचनं तव'। यही शरणागति है।

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥

संजय बोले—इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा पृथानन्दन अर्जुनका यह रोमाञ्चित करनेवाला अद्भुत संवाद सुना।

व्याख्या—भगवान्का स्वयं अवतार लेकर मनुष्य-जैसा काम करते हुए अपने-आपको प्रकट कर देना और 'मेरी शरणमें आ जा'—यह अत्यन्त रहस्यकी बात कह देना—यही संवादमें रोमहर्षण करनेवाली, प्रसन्न करनेवाली, आनन्द देनेवाली बात है।

गीतामें 'महात्मा' शब्द केवल भक्तोंके लिये आया है। यहाँ संजयने अर्जुनको भी 'महात्मा' कहा है; क्योंकि वे अर्जुनको भक्त ही मानते हैं। भगवान्ने भी कहा—'भक्तोऽसि मे' (गीता ४। ३)।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ ७५॥

व्यासजीकी कृपासे मैंने स्वयं इस परमगोपनीय योग (गीताग्रन्थ)-को कहते हुए साक्षात् योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे सुना है।

व्याख्या— भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुनका पूरा संवाद सुननेपर संजयके आनन्दकी कोई सीमा नहीं रही। इसलिये वे हर्षोल्लासमें भरकर कह रहे हैं कि मैंने यह संवाद परम्परासे अथवा किसीके द्वारा नहीं सुना है, प्रत्युत इसे मैंने साक्षात् भगवान्‌के मुखसे सुना है।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस पवित्र और अद्भुत संवादको याद कर-करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।

व्याख्या— भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस संवादमें जो तत्त्व भरा हुआ है, वह किसी ग्रन्थ, महात्मा आदिसे सुननेको नहीं मिला। यह भगवान् और उनके भक्तका बड़ा विलक्षण संवाद है। इतनी स्पष्ट बातें दूसरी जगह पढ़ने-सुननेको मिलती नहीं। इस संवादमें युद्ध-जैसे घोर कर्मसे भी कल्याण होनेकी बात कही गयी है। प्रत्येक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें अपना कल्याण कर सकता है—यह बात इस संवादसे मिलती है। इसलिये यह संवाद बड़ा अद्भुत है। केवल संवादमें ही इतनी विलक्षणता है, फिर इसके अनुसार आचरण करनेका तो कहना ही क्या है। ज्ञान-कर्म-भक्तिकी ऐसी विलक्षण बातें और जगह सुननेको मिली ही नहीं, इसलिये इनको सुनकर संजय बार-बार हर्षित हो रहे हैं।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके उस अत्यन्त अद्भुत विराट्‌रूपको भी याद कर-करके मुझे बड़ा भारी आश्चर्य हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।

व्याख्या— **भगवान्‌के विषयमें पहले तो संजयने शास्त्रमें पढ़ा, फिर अद्भुत संवाद सुना और फिर अति अद्भुत विराट्‌रूप देखा। तात्पर्य है कि शास्त्रकी अपेक्षा श्रीकृष्णार्जुन-संवाद अद्भुत था और संवादकी अपेक्षा भी विराट्‌रूप अत्यन्त अद्भुत था।**

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ७८॥

जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहाँ ही श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या— **संजय कहते हैं कि राजन्! जहाँ अर्जुनका संरक्षण करनेवाले, उन्हें सम्मति देनेवाले, सम्पूर्ण योगोंके महान् ईश्वर, महान् बलशाली, महान् ऐश्वर्यवान्, महान् विद्यावान्, महान् चतुर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ भगवान्की आज्ञाका पालन करनेवाले, भगवान्के प्रिय सखा तथा शरणागत भक्त गाण्डीव-धनुर्धारी अर्जुन हैं, उसी पक्षमें श्री, विजय, विभूति और अचल नीति—ये सभी हैं और मेरी सम्मति भी उसी पक्षमें ही है।**

युद्धमें कौन जीतेगा और कौन हारेगा—इसका निर्णय वास्तवमें उसी समय हो गया था, जब अर्जुन और दुर्योधन—दोनों युद्धका निमन्त्रण देने भगवान् श्रीकृष्णके पास पहुँचे थे! अर्जुनने अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित नारायणी सेनाको छोड़कर निःशस्त्र भगवान् श्रीकृष्णको स्वीकार किया, और दुर्योधनने भगवान्को छोड़कर उनकी नारायणी सेनाको स्वीकार किया। गीताके अन्तमें संजय भी मानो उसी निर्णयकी ओर संकेत करते हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान हैं, वहीं विजय है—'यतः कृष्णस्ततो जयः' **(महाभारत भीष्म० ४३।६०, शल्य० ६२।३२)।**

ब्रह्मषट्शून्यनेत्राब्दे हेमलम्बाख्यवत्सरे।
नवम्यां चैत्रशुक्लायां रामजन्ममहोत्सवे॥*
गीताप्रबोधनीटीकालेखनं पूर्णतामगात्।
यत्कृपातो नमामस्तं गीतागायकमच्युतम्॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्न्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

---

* श्रीरामनवमी, वि० सं० २०६१

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि सुन्दर सुपुनीते॥ जय०
कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि कामासक्तिहरा।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि विद्या ब्रह्म परा॥ जय०
निश्चल-भक्ति-विधायिनि निर्मल मलहारी।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि सब विधि सुखकारी॥ जय०
राग-द्वेष-विदारिणि कारिणि मोद सदा।
भव-भय-हारिणि तारिणि परमानन्दप्रदा॥ जय०
आसुर-भाव-विनाशिनि नाशिनि तम-रजनी।
दैवी सद्गुणदायिनि हरि-रसिका सजनी॥ जय०
समता, त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी बानी।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी॥ जय०
दया-सुधा बरसावनि मातु! कृपा कीजै।
हरिपद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै॥ जय०

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नम:॥

गीतामें साधर्म्य

लक्षण	कर्मयोगी	ज्ञानयोगी	भक्तियोगी	श्रीभगवान्
ज्ञानी		सदृशं चेष्टते० (३।३३) तद्विद्धि प्रणिपातेन०(४।३४)	चतुर्विधा भजन्ते०(७।१६) तेषां ज्ञानी० (७।१७) उदारा: सर्व० (७।१८) बहूनां जन्मनामन्ते०(७।१९)	
सर्ववित्			यो मामेवमसंमूढो० (१५।१९)	
वेदवित्		ऊर्ध्वमूलमध:० (१५।१)		सर्वस्य चाहं० (१५।१५)
महात्मा			बहूनां जन्मनामन्ते०(७।१९) मामुपेत्य पुनर्जन्म०(८।१५) महात्मानस्तु० (९।१३)	दिवि सूर्य० (११।१२) द्यावापृथिव्यो० (११।२०) कस्माच्च ते० (११।३७) इत्यर्जुनं० (११।५०)
सर्वारम्भपरित्यागी		मानापमानयो० (१४।२५)	अनपेक्ष:० (१२।१६)	
मनीषी	कर्मजं बुद्धियुक्ता० (२।५१)			
	यज्ञदानतप:कर्म० (१८।५)			
मैत्र:			अद्वेष्टा सर्वभूतानां० (१२।१३)	
करुण:			,, ,, (१२।१३)	
उदार			उदारा: सर्व० (७।१८)	
उदासीन			अनपेक्ष:० (१२।१६)	
उदासीनवत्		उदासीनवदासीनो०(१४।२३)		न च मां तानि०(९।९)
अद्वेष्टा			अद्वेष्टा० (१२।१३)	
सुहृद्				भोक्तारं यज्ञ० (५।२९) गतिर्भर्ता० (९।१८)
स्वस्थ		समदु:खसुख:० (१४।२४)		
अन्तराराम		योऽन्त:सुख:० (५।२४)		
अनाश्रित	अनाश्रित:० (६।१) त्यक्त्वा० (४।२०)			
मुनि	दु:खेष्वनु० (२।५६)	या निशा० (२।६९)		

लक्षण	कर्मयोगी	ज्ञानयोगी	भक्तियोगी	श्रीभगवान्
	संन्यासस्तु० (५।६) आरुरुक्षो० (६।३)	परं भूय:० (१४।१)		
सन्तुष्ट	यस्त्वात्मरतिरेव०(३।१७) यदृच्छालाभ० (४।२२)		सन्तुष्ट: सततं० (१२।१४) तुल्यनिन्दा० (१२।१९)	
सुकृती			चतुर्विधा भजन्ते०(७।१६)	
युक्ततम			योगिनामपि० (६।४७) मय्यावेश्य मन:० (१२।२)	
पुरुष	यततो ह्यपि० (२।६०) न कर्मणा० (३।४) तस्मादसक्त:०(३।१९)	यं हि न० (२।१५) वेदाविनाशिनं० (२।२१)		अभ्यासयोगयुक्तेन० (८।८) प्रयाणकाले० (८।१०) पुरुष: स पर: (८।२२) परं ब्रह्म परं० (१०।१२) त्वमक्षरं परमं० (११।१८) त्वमादिदेव:० (११।३८) तत: पदं० (१५।४) उत्तम: पुरुष:० (१५।१७)
संन्यासी	ज्ञेय: स० (५।३) अनाश्रित:० (६।१)			
अनपेक्ष			अनपेक्ष:० (१२।१६)	
दक्ष			अनपेक्ष:० (१२।१६)	
ऋषि		लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण०(५।२५) ऋषिभिर्बहुधा० (१३।४)		
सर्वभूतहिते रता:		लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण०(५।२५) संनियम्येन्द्रियग्रामं० (१२।४)		